JUST A MINUTE

The main aim of this booklet, as our author says, is to give you a clear conception of the subject in a short cut method Our learned and experienced Author has selected the minimum number of questions to cover the full course of most of the Indian Universities The topics of Indian Ethics have been included as part of the general questions as well as few independent questions

In the absence of a good and reliable text book on the subject in Hindi,, we earnestly hope that this booklet will be highly useful to our readers.

PUBLISHER

CONTENTS

PART-I. ETHICS আচার-শাস্ত্র

PART-II. SOCIAL PHILOSOPHY সমাজ দর্শন

UNIVERSITY QUESTIONS

PART. I.

ETHICS

आचार शास्त्र

Q. 1 Define Ethics and discuss whether it is a science or an art.

Ethics का भारतीय पर्याय है आचार शास्त्र या नीतिशास्त्र। जैसा कि इसके नाम से ही विदित होता है, यह मानव-व्यवहार या विचार का विवेचन करता है। हमारे आचरण का क्या उद्देश्य होना चाहिये और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये किन साधनों का प्रयोग करना उचित है ये सभी प्रश्न हमारे मन में उठते है। साधारण बोलचाल में हम अक्सर किसी काम को उचित या अनुचित, बुरा या भला, सही या गलत बताते हैं। लेकिन ऐसे वाक्यों की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि हमारे पास कोई मापदण्ड या आदर्श हो। इसी आदर्श से तुलना करके हम किसी कार्य की अच्छाई या बुराई का निर्णय करते हैं। इसी आदर्श की स्थापना करना आचार-शास्त्र का उद्देश्य है।

स्वयं Ethics शब्द की व्युत्पति यूनानी शब्द Ethica या Ethos से हुई है। Ethos का अर्थ होता है रीति, रिवाज, चलन, प्रथा, आदत इत्यादि। Ethics के लिये एक दूसरे शब्द Morality का भी प्रयोग होता है। यह लैटिन शब्द Mores से बना है और इसका भी अर्थ Ethos ही जैसा होता है। इन अर्थों के ख्याल से Ethics मनुष्य की आदतों और रीति रीवाज का निर्णायक शास्त्र है। आदमी का जो भी आचरण होता है इसकी सभी आदतें,

उसका सारा कार्य-कलाप-स्वयं उसी तक सीमित नहीं रहता है। समाज का एक अंग होने के नाते इन सबका मतलब समाज से भी होता है और इसलिये इनका समाज के द्वारा कभी अनुमोदन और कभी तिरस्कार होता है। इसी अनुमोदन अथवा तिरस्कार के लिये एक विद्या या एक विज्ञान की आवश्यकता होती है। इस तरह हमने देखा कि आचार शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के आचरण या व्यवहार से होता है यह व्यवहार चाहे वैयक्तिक हो अथवा सामाजिक।

अब आदमी का व्यवहार उसके चरित्र का द्योतक है। कोई भी व्यक्ति कैसे चरित्र का है यह समझने के लिये साधारणतः हम उसके कार्यों या व्यवहारों की आलोचना करके देखते हैं। व्यक्ति का व्यवहार अच्छा होगा या बुरा यह उसके चरित्र के अच्छा या बुरा होने पर निर्भर है। अत. Ethics का सम्बन्ध मनुष्य के चरित्र से भी होता है। इस दृष्टि से हम Ethics की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं।

"Ethics is the Science of moral character as expressing itself in right or wrong conduct or action."

हमने देखा कि अपने व्यवहारों में हम आदर्श की खोज करते हैं। ये आदर्श दो प्रकार के हो सकते हैं (१) आसन्न आदर्श (Immediate Ideal) और (२) चरम आदर्श (Proximate या ultimate Ideal)। साधारण रूप से तो हमारा मतलब दिन-प्रति-दिन के आदर्शों से रहता है किन्तु ये आदर्श स्वयं हमारे चरम आदर्श पर निर्भर रहते हैं। हमारे जीवन का लक्ष्य या चरम उद्देश्य क्या है इसी आधार पर हम अपने व्यवहारों की परीक्षा कर सकते हैं। अतः परोक्ष रूप मे आचारशास्त्र हमारे चरम आदर्श या उद्देश्य से सम्बद्ध रहता है। इसलिये इसकी परिभाषा कभी-कभी इस प्रकार भी की जाती है :

"It is an enquiry into the nature of the ultimate end of human action the highest good of man and the means of attaining it"

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार-शास्त्र हमारे आचरण की अच्छाई या बुराई का निर्णय करता है। यह हमारे चरित्र का मूल्यांकन

करने के अतिरिक्त हमारे चरम उद्देश्य की व्याख्या करता है। और फिर इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये उचित साधनों का ज्ञान हमे कराता है। अतः यह उद्देश्यों (ends) और साधनों (means) दोनों का ही शास्त्र है।

आचार-शास्त्र विज्ञान है अथवा नहीं, यह समझने के लिये आवश्यक है कि पहले हम देखें कि विज्ञान कहते किसे हैं। वृहत् अर्थ में हम किसी भी ऐसी विद्या को विज्ञान कहते हैं, जो सत्य की प्राप्ति के लिये व्यवस्थित ज्ञान दे। इस प्रकार विज्ञानों से प्राप्त ज्ञान सत्य, व्यवस्थित अथवा सुसम्बद्ध, स्पष्ट और निश्चित होता है। विज्ञानों की अपनी पद्धति होती है जिसके आधार पर नियमों की खोज की जाती है।

आचार-शास्त्र से हमे आचरण सम्बन्धी बातों का व्यवस्थित और शुद्ध ज्ञान होता है। इसकी भी पद्धति निरीक्षण (observation) की पद्धति होती है। अत वृहत् अर्थ मे Ethics को विज्ञान कहने में कोई हर्ज नहीं है।

किन्तु संकुचित अर्थ में हमें विज्ञान से प्राकृतिक विज्ञानों का बोध होता है, जैसे भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान आदि। अब आचार-शास्त्र में हम जीव अथवा भूत जैसे किसी प्राकृतिक वस्तु का अध्ययन नहीं करते; बल्कि इसका सम्बन्ध मानव के व्यवहार से होता है। अत इस अर्थ में Ethics विज्ञान नहीं है। इसके विज्ञान होने में और दूसरी भी शंकायें उपस्थित होती हैं। Ethics का ज्ञान निश्चित और निस्सन्देह नहीं होता, क्योंकि हम देखते हैं कि विभिन्न देश और काल में व्यवहार के आदर्श भी भिन्न होते हैं। इस तरह इसके सिद्धान्त सार्वभौमिक (universal) नहीं होते, लेकिन वैज्ञानिक ज्ञान हमेशा ही व्यापक और सार्वभौमिक होता है। इन्हीं सब बातों से आजकल कतिपय विद्वान इसे विज्ञान कहने में सहमते हैं और इसके लिये "Moral philosophy" आदि शब्दों का व्यवहार करना उचित समझते हैं। विषय वस्तु का अवलोकन करने से यह कुछ जायज भी मालूम पड़ता है लेकिन फिर भी Ethics को Science कहना काफी प्रचलित है और वृहत् अर्थ में हम ऐसा कर सकते हैं।

विज्ञान दो प्रकार के होते हैं- (१) वास्तववादी विज्ञान (Positive Science) और (२) आदर्शवादी विज्ञान (Normative science)।

वास्तववादी विज्ञान का मतलव किसी वस्तु की वास्तविक स्थिति से होता है। अर्थात् जो वस्तु वास्तव में जैसी होती है उसी रूप में उसका अध्ययन किया जाता है और ततसम्वन्धी नियमों की स्थापना की जाती है। संक्षेप में वास्तववादी विज्ञान सिर्फ इतना वताता है कि अमुक वस्तु ऐसी 'है' अथवा 'नहीं है'। इसके वाक्य वर्णनात्मक (desciiptive) होते हैं।

इसके विपरीत आदर्शवादी विज्ञान में हम आदर्शों अथवा norm या standard की चर्चा करते हैं। कोई वस्तु कैसी है सिर्फ इसी से मतलव न रखकर हम यह भी वताते हैं कि इसे कैसा होना चाहिये। अतः इसमें हमारा सम्वन्ध वस्तुओं के "है" या "नहीं है" से ही नहीं वल्कि 'चाहिये' (should या ought) से भी होता है। इसमें हम एक आदर्श की स्थापना करते है और उससे तुलना कर यह वताते हैं कि अमुक वस्तु को ऐसा होना चाहिये। अतः यहाँ हमारे जो वाक्य होते हैं वे सिर्फ वर्णनात्मक ही नहीं होते हैं वल्कि मूल्य-निर्धारक (appreciative या ciitical) भी होते है।

अव इसमें सन्देह ही नही हो सकता कि आचार-शास्त्र को दूसरी कोटि में रखा जाय। हम देख चुके हैं कि आचार-शास्त्र हमारे आचार या व्यवहार का मूल्यांकन करता है। हमारा कौन सा काम सही है अथवा गलत, उचित अथवा अनुचित, इसका आदर्श रूप क्या होना चाहिये इन सव का निर्णय किया जाता है। हमें कैसा व्यवहार करना चाहिये, हमारे चरित्र का आदर्श क्या है, हमारे जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिये, इन सभी प्रश्नों का उत्तर देना आचार-शास्त्र का काम है। अत इसे आदर्शवादी विज्ञान अथवा नियामक विज्ञान (regulative science) कहना चाहिये।

नीतिशास्त्र को एक दूसरे सिद्धान्त के अनुसार भी देखा जा सकता है। यह (Piactical science) या क्रियात्मक विज्ञान नही है, क्योंकि हम इसमें किसी कार्य को करने का ढग नहीं सीखते। क्रियात्मक विज्ञान से हम मनुष्य जाति की किसी जरूरत को पूरी करने के लिये कुछ खास तरीकों की खोज करते हैं और उसका व्यवहार करना सीखते हैं। लेकिन आचार-शास्त्र हमें सिर्फ आदर्शों की ओर इशारा करता है, किसी अच्छे काम को कैसे किया जाय यह नहीं वताता।

उदाहरणार्थ, आचार-शास्त्र हमें यह बता सकता है कि परोपकार अच्छी चीज है और हमें परोपकार करना चाहिये, लेकिन परोपकार किस प्रकार किया जाय इसका विवेचन तर्कशास्त्र नहीं करता। अत. इसे theoretical science ही समझना अच्छा है।

यह विवेचन कर लेने पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि आचार-शास्त्र कला नहीं है। कला का सम्बन्ध हमेशा करने से होता है। जैसे रसोई करना एक कला है अथवा चिकित्सा करना एक कला है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक कला का एक उद्देश्य होता है और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये विशद रूप में नियमों की सृष्टि होती है जिनके सहारे आदमी उसे सीख सके। लेकिन नीति-शास्त्र इस प्रकार किसी चीज को सीखने में सहायक नहीं होता, यह तो विज्ञानों की भाँति केवल हमें अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान देता है। उस ज्ञान को कार्य रूप में लाना Ethics का क्षेत्र नहीं है। यह बात ऊपर के उदाहरण से समझी जा सकती है।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि कला से इसका कोई विरोध है। आचरण से सम्बन्ध होने के कारण यह कला न होने पर भी कला के निकट है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि आचार शास्त्र का स्थान विज्ञान और कला के बीच पड़ता है। न तो यह रसायन शास्त्र की तरह शुद्ध विज्ञान है और न रसोई-शास्त्र की तरह शुद्ध कला। यह इन दोनों का मध्यवर्त्ती है। जैसा कि कोई भी दूसरा Normative science हुआ करता है।

Q. 2 Explain the subject-matter of Ethics and the value of its study

किसी भी विद्या अथवा शास्त्र की विषय-वस्तु से हमारा मतलब होता है कि उस अमुक विद्या मे हम किन प्रश्नों के उत्तर निश्चित रूप से ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। नीतिशास्त्र में भी अन्य विद्याओ की तरह हम कुछ समस्याओं का

समाधान पाने की चेष्टा करते हैं। यही उसकी विषय-वस्तु (subject-matter) अथवा क्षेत्र (Scope) है।

हमने देखा है कि नीति-शास्त्र में हम मनुष्य के आचार-व्यवहार, उसकी नैतिकता का अध्ययन करते हैं। अत: इस शास्त्र में प्रधान रूप मे हमारा सम्बन्ध नैतिक चेतना से होता है। हमारे आचरण-सम्बन्धी जितने भी तथ्य या सिद्धान्त है वे सभी नैतिक चेतना के अन्दर आते है। नैतिक चेतना के विश्लेषण से हमे कतिपय विषय मिलते है। शुभ-अशुभ, अच्छा-बुरा, उचित-अनुचित, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व, धर्म-अधर्म आदि सभी चीजें नैतिक चेतना के अन्दर आती है। इस तरह विशद रूप में नीति-शास्त्र की प्रधान समस्यायें ये हैं :

(क) सर्वप्रथम तो नितिशास्त्र में हम उचित-अनुचित की चर्चा करते हैं। अपने साधारण व्यवहार में हम कुछ कार्यों को उचित और दूसरों को अनुचित कहा करते हैं। अब प्रश्न उठता है कि हम ऐसा क्यों करते हैं। किस आधार पर हम किसी कार्य को उचित या अनुचित के गुण से विभूषित करते हैं। इसलिये हमें देखना पडता है कि उचित-अनुचित का क्या अर्थ होता है। नीतिशास्त्र में जो हमारे निर्णय वाक्य (Judgments) होते है उनका विषय (object) क्या है तथा किस मापदण्ड के आधार पर हम ऐसे वाक्यों की रचना करते हैं? इन सब प्रश्नों के उत्तर आचार-शात्र मे प्राप्त होते हैं।

लेकिन जैसा कि हम देखेंगे कि इन सभी प्रश्नों में सबसे मौलिक और महत्व-पूर्ण होता है नैतिकता के मापदण्ड (moral Standard) का प्रश्न। जब तक हमारे पास कोई मापदण्ड न हो हम किसी भी कार्य को उचित अथवा अनुचित कह ही नहीं सकते। किसी भी कार्य को जब हम उचित कहते हैं तब हमारा क्या अभिप्राय होता है? उस अमुक कार्य में ऐसा क्या है जो उसे उचित अथवा अनुचित बनाता है, अर्थात् उचित और अनुचित का मापदण्ड (Standard) क्या है? और इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें देखना पड़ता है कि हमारा चरम उद्देश्य या आदर्श क्या है। क्योंकि हम किसी कार्य को उचित-अनुचित कहने के लिये यह देखने का प्रयास करते हैं कि वह हमारे उद्देश्य का साधक

है या बाधक। अतः नीति-शास्त्र में हमें यह निर्णय करना पड़ता है कि मानव का चरम उद्देश्य या आदर्श क्या है।

(ख) यह तो हमारी समस्या का एक पहलू है। दूसरी दृष्टि से देखने पर उचित-अनुचित के अन्दर कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की भावनायें निहित होती हैं। यदि हम कोई ऐसा कार्य करते हैं जो हमें करना चाहिये अथवा जो हमारा कर्त्तव्य है, तो फिर उसे उचित कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं होती। हम देखते हैं कि जो कुछ उचित है वह हमें अवश्य ही करना चाहिये, वह हमारा कर्त्तव्य है और जो अनुचित अथवा गलत है उसका त्याग करना भी हमारा कर्त्तव्य होता है। इस कार हमें मानना पड़ता है कि हम एक नैतिक सिद्धान्त के अनुसार परिचालित होते हैं और उसकी अवहेलना करने से हमारी निन्दा होती है। फिर कर्त्तव्य की चर्चा करते ही हमें अधिकार की भी याद आती हैं, क्योंकि कर्त्तव्य और अधिकार सहयोगी होते हैं। प्रत्येक कर्त्तव्य के पालन करनेवाले को स्वभावत. कुछ अधिकार भी होते हैं। और उसी प्रकार जब कभी हम अपने किसी अधिकार की चर्चा करते हैं तो हमें कुछ कर्त्तव्यों का भी पालन करना पड़ता है, अर्थात् हमारा कुछ उत्तरदायित्व भी होता है। अत यह प्रश्न उठता है कि किस कारण से अथवा किस गुण के होने से कोई कार्य हमारा कर्त्तव्य हो जाता है; किसी कार्य को करने के लिये हम क्यों उत्तरदायी होते हैं? इसलिये नीतिशास्त्र कर्त्तव्य, अधिकार, उत्तरदायित्व आदि का भी विवेचन करता है।

(ग) फिर हम यह भी पाते हैं कि उचित-अनुचित के साथ धर्म और अधर्म का सम्बन्ध होता है। जो उचित होता है वह हमारा धर्म है और उसका पालन करने के लिये हम उत्तरदायी होते हैं। अपने कर्त्तव्य के विषय में हम यह भी कहते हैं कि यह हमारा धर्म है और ऐसा न करने से हम अपने धर्म से वंचित होते हैं। अत. धर्म (merit) और अधर्म (demerit) से भी नीतिशास्त्र का ताल्लुक होता है। यहाँ धर्म का अर्थ कर्त्तव्य अथवा उत्तरदायित्व समझना चाहिये, न कि ऐतिहासिक धर्म जैसे हिन्दू अथवा इसाई-धर्म।

(घ) इसके अतिरिक्त हमें यह भी देखने को मिलता है कि लोग अपने आचरण में पुण्य और पाप की भी बात करते हैं। हम यदाकदा बोलते है कि

अमुक प्रकार का कार्य करने से मनुष्य पाप का भागी होता है अथवा पुण्य लाभ करता है। जो व्यक्ति नैतिक जीवन व्यतीत करता है उसे हम पुण्यात्मा की संज्ञा देते हैं और अनैतिक व्यक्तियों को पापी कहकर उनकी भर्त्सना करते हैं। इस सब का अर्थ यह होता है कि हमारी नैतिक चेतना में इस बात का विश्वास होता है कि प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई फल अवश्य होता है। जो जैसा आचरण करता है उसीको उसी के अनुसार इस जीवन में अथवा दूसरे जन्म में पुण्य अथवा पाप का भागी होना पड़ता है। नैतिक आचरण के लिये यह विश्वास आवश्यक है। अतः नीतिशास्त्र में हम पाप और पुण्य जैसी बातों की भी विवेचना करते हैं।

(ङ) हमें मालूम है कि नैतिकता सदा ही मानवीय वस्तु है। और हर मानव को बुद्धि और विवेक के अतिरिक्त एक और वस्तु होती है जिसे हम हृदय की संज्ञा देते हैं। हृदय का सम्बन्ध हमारी भावनाओं, संवेगों आदि से होता है। जब हम कोई नैतिक निर्णय देते हैं अथवा किसी नैतिक विचार को प्रश्रय देते हैं तब हमारा हृदय हमारा साथ नहीं छोड़ता अर्थात् इन सब क्षणों में हमारे भीतर अनेक प्रकार की भावनायें, संवेग इत्यादि उठते हैं जैसे, सहमति, पश्चाताप, प्रसन्नता आदि। अब इन सब की क्या वजह है और नैतिक निर्णय से इनका क्या सम्बन्ध है। यह भी नीतिशास्त्र का एक प्रश्न होता है।

ये सभी नितिशास्त्र के खास विषय हैं। इनके अन्दर हम नीतिशास्त्र के सामान्य नियमों की चर्चा पाते हैं। लेकिन इनके अतिरिक्त नीतिशास्त्र का एक विभिन्न पहलू भी है जिसमे हम इन सामान्य नियमों के आधार पर अपने वास्तविक व्यवहार का नित्य-प्रति लेखा-जोखा करते हैं और जिसे हम (Applied Ethics) कहते हैं।

अपनी प्रधान समस्या का समाधान पाने में नीतिशास्त्र को और कई शास्त्रों से सहायता मिलती है और इस सिलसिले में ऐसे कई प्रश्न उठते हैं जो खास रूप में नीतिशास्त्र के विषय नहीं होते। ये प्रश्न दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, राजनैतिक आदि होते हैं। जैसे सहज आचरण (Voluntary action) का स्वभाव, कार्यों का उद्गम (Springs of action) इत्यादि मनोवैज्ञानिक

विषय हैं। फिर आत्मा की सत्ता, पुनर्जन्म आदि दार्शनिक होते हैं। और राज्य तथा व्यक्ति का सम्बन्ध आदि राजनैतिक है लेकिन फिर भी इन विषयों की चर्चा नीतिशास्त्र में होती हैं क्योंकि उसके बिना नीतिशास्त्र का अध्ययन सम्भव नहीं।

अब हमें नीतिशास्त्र के उपयोग की परीक्षा करनी है। आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य की सत्ता एक मशीन जैसी हो गई है। जीवन का संघर्ष इतना तीव्र हो गया है कि मनुष्य को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में अपना सारा समय और सम्पूर्ण शक्ति लगा देनी पड़ती है। रोजी-रोटी और भौतिक सुख सुविधा के अनुसधान में ही आदमी दिन-रात परेशान रहता है। ऐसी हालत में मनुष्य को नैतिक-अनैतिक आदि विषयों के साथ माथा-पच्ची करने की फुर्सत कहाँ है? वह तो चाहता है कि किसी प्रकार, किसी साधन से उसकी जरूरतें पूरी हो जायँ। नैतिकता का बन्धन तो उसकी आवश्यकता-पूर्ति में व्यवधान का कार्य करता है। फिर ऐसे किसी शास्त्र की क्या आवश्यकता? अच्छा होता कि यह झंझट ही न रहती? इस तरह के विचार आजकल अक्सर व्यक्त किये जाते हैं। लोग कहते पाये जाते हैं कि आज का युग तो विज्ञान का युग है, अतः नीति और धर्म जैसी व्यर्थ बातों को प्रश्रय देना युग के प्रतिकूल व्यवहार होगा। इसीलिये नीतिशास्त्र के रक्षकों और निष्पक्ष विचारकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यह शंका उचित है, क्या सचमुच ही नीतिशास्त्र निरर्थक है या उसका कुछ उपयोग भी है? यदि है तो क्या और कैसे?

हमने देखा है कि नीतिशास्त्र हमारे जीवन का चरम आदर्श खोजता है और उसकी प्राप्ति की ओर हमें अग्रसर करता है। हमें एक दृष्टिकोण, एक जीवन दर्शन देता है, जिसके बिना हममें और पशुओं में कोई अन्तर नहीं है। अपनी जीवन-नौका का किनारा ढूँढ़े बगैर अगर हम उसे संसार-सागर में डाल देते हैं तो हम निरुद्देश्य भटकते रहते हैं और एक बार किसी भँवर में पड़कर डूब जाते हैं। अतः आवश्यक है कि हमारा एक दृष्टिकोण, एक निश्चित उद्देश्य हो। इस बात की आज सबसे अधिक आवश्यकता है। हमारी यह धारणा हो गई है कि भौतिक उपलब्धियाँ ही सब कुछ हैं। लेकिन यह हमारा भ्रम है। भौतिक

आवश्यकतायें महत्वपूर्ण हैं इसमें सन्देह नहीं, पर इन्हीं की पूर्त्ति के लिये हमें कुछ ऐसे क्षेत्रों में जाना पड़ता है जो भौतिक नहीं आध्यात्मिक हैं। यह आध्यात्मिक (Spiritual) भी हमारे व्यक्तित्व का आवश्यक अंग है। अतः इसके प्रति भी हमें न्याय करना है और इसी की मांग के फलस्वरूप धर्म, दर्शन और नीति-विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसी आध्यात्मिक चेतना के फलस्वरूप हम दूसरे के स्वार्थों का आदर करते हैं और उन्हें सहानुभूति की दृष्टि से देखते हैं। जिस दिन यह नहीं हो उसी दिन अपने स्वार्थों को लेकर इतने अधिक संघर्ष हो जायें कि लोगों का जीना मुहाल हो जाय। आज के युग को इसे सीखने की सबसे अधिक आवश्यकता है। हमें यह जान लेना है कि हमारी और दूसरे मनुष्यों की आत्मा बराबर है। ऐसा हो जाय तो फिर दुनिया का कल्याण ही कल्याण है।

इस तरह नीतिशास्त्र का सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों ही रूपों में उपयोग है। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि हमारे अन्दर और हमारे समाज में नैतिक, अनैतिक; शुभ, अशुभ, उचित अनुचित आदि की चेतना वर्तमान है और अनन्त समय से आ रही है। अब ऐसी किसी प्रबल धारणा को हम बकवास कहकर टाल तो नहीं ही सकते। अतः हमें कम से कम इनकी सचाई और असलियत समझने के लिये इन सभी धारणाओं की विवेक के आधार पर परीक्षा करनी पड़ती है, इनकी परिभाषा स्थिर करनी पड़ती है और इनकी सीमा कायम करनी होती है। इनके विषय में प्रचलित अन्धविश्वासों का नाश करना, नैतिकता के नाम पर किये गये अनाचारों की पोल खोलना यह भी हमारा परम कर्तव्य हो जाता है। और कम से कम इस रूप में तो नीतिशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है।

यह तो हुई सर्वसाधारण की बात। पर इसके अतिरिक्त जो समाज के नेता हैं, जिनके द्वारा समाज और मानवता का परिचालन होता है, उनके भीतर नैतिक चेतना का विकसित होना परमावश्यक है। यदि राजनीतिज्ञ, न्यायकर्त्ता, धर्मपालक जैसे लोगों को नीतिशास्त्र का अध्ययन न हो, यदि उन्हें मनुष्य की मर्यादा, उसकी आपदाओं के लिये सहानुभूति और उसके अधिकारों के प्रति आदर का भाव नहीं तो समाज और मानवता का नाश अवश्यम्भावी है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नीतिशास्त्र का अध्ययन अत्यन्त ही उपयोगी है वह चाहे आज का युग हो अथवा हजार साल बाद का। मनुष्य की कतिपय आवश्यकताओं में यह भी एक प्रधान आवश्यकता है।

.....

Q. 3. What is the relation of Ethics to : (a) Philosophy, (b) Religion, (c) Psychology, (d) Politics and (e) Sociology.

(क) आचारशास्त्र और दर्शन इन दोनों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह इसी से स्पष्ट है कि हम आचार-शास्त्र को दर्शन का अंग मानते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि आचार-शास्त्र की प्रधान समस्या का समाधान बिना कुछ दार्शनिक विवेचना के हो ही नहीं सकता। हमने देखा है कि आचार-शास्त्र में हम मानव के चरम उद्देश्य का अनुसन्धान करना चाहते हैं। लेकिन इसके लिये मानव आत्मा का स्वभाव, विश्व मे व्यक्ति का स्थान, मानव का इच्छा-स्वातन्त्र्य आदि कतिपय दार्शनिक विषयों की व्याख्या हमें करनी पड़ती है।

हम व्यक्ति के आचरण का आदर्श स्थापित करना चाहते हैं, लेकिन उसके पूर्व स्वत यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति है क्या? उसका क्या स्वभाव है तथा सम्पूर्ण विश्व में उसका क्या स्थान है? क्या मनुष्य के आत्मा की नाम की कोई चीज है? यदि हाँ, तो क्या वह चिरस्थायी अथवा अमर है या सिर्फ क्षणिक? क्या उसे इच्छा-स्वातन्त्र्य (Freedom of will) है? स्पष्ट रूप से हम देख सकते हैं कि बिना इन प्रश्नों का हल किये हम नीतिशास्त्र में आगे नहीं बढ सकते। और ये सभी प्रश्न निस्सन्देह दार्शनिक हैं। आचारशास्त्र का इतिहास देखने से हमें पता चलता है कि कोई भी नैतिक सिद्धान्त निश्चित रूप से किसी न किसी दार्शनिक सिद्धान्त पर निर्भर करता है। उपरोक्त प्रश्नों का जैसा उत्तर होगा उसी पर नैतिक सिद्धान्त विशेष रूप ग्रहण करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भौतिकवाद नाम के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुरूप नीतिविज्ञान में सुखवाद का सिद्धान्त होता है अथवा आस्तिकवादी आदर्शवाद (Thristic Idealism) के अनुरूप आत्मपूर्णतावादी (Perfectionism)

दार्शनिक विवेचन में जब जब क्रान्तियाँ होती हैं तो उन्हीं के समानान्तर परिवर्तन नीतिशास्त्र में हुआ करते हैं। इसीलिये D'Arcy का कथन ठीक ही है कि

"The opinion which we entertain as to men's life as a whole and its relation to the universe at large must influence our practice of the art of life (i e our conduct) and Consequently the view which we take of the science of Conduct."

अत. हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दर्शन और नीतिविज्ञान का आपसी सम्बन्ध अत्यन्त ही गहरा है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि बिना दर्शन के नीतिविज्ञान असम्भव है।

किन्तु इनके बावजूद दर्शन और नीतिविज्ञान एकदम एक नहीं हैं। इन दोनों में अंगी और अंग का सम्बन्ध है। दर्शन का क्षेत्र आचार-शास्त्र के क्षेत्र से कहीं अधिक विस्तृत है। दर्शन में हम सम्पूर्ण विश्व का एक इकाई के रूप में अध्ययन करते हैं। अत. यदि हम 'शिवम्' (The Good) की चर्चा दर्शन में करते हैं तो वह सम्पूर्ण विश्व के सम्बन्ध में लेकिन आचार-शास्त्र में हम केवल मानवीय शुभ-अशुभ की व्याख्या करते हैं।

इसके अतिरिक्त दार्शनिक अध्ययन प्रधानतः सैद्धान्तिक और पंडिताऊ होता है किन्तु आचारशास्त्र का अध्ययन व्यावहारिक और वास्तविक। इसमें भी सैद्धान्तिक तर्क वितर्क होते हैं, पर उनका उद्देश्य हमेशा ही लोगों को वास्तविक जीवन की समस्याओं में सहायता करना होता है। दर्शन का उद्देश्य होता है मानवीय जिज्ञासा की शान्ति, किन्तु आचारशास्त्र में केवल इतना ही नहीं होता। इसका प्रधान उद्देश्य होता है मानव की कुछ आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

(ख) आचारशास्त्र और धर्म इन दोनों के सम्बन्धों की चर्चा करने से पहले हमें यह देखना आवश्यक है कि धर्म (Religion) है क्या। धर्म के उद्गम की व्याख्या करने से यह पता चलता है कि धर्म की उत्पत्ति मनुष्य की

मानसिक अशान्ति और अपूर्णता के अनुभव से हुई है। प्राकृतिक शक्तियों की प्रबलता से घबड़ाकर मनुष्य ने एक बहुत बड़ी शक्ति की कल्पना की और पूजा-अर्चा के द्वारा इस शक्ति को अपने पक्ष में लाकर अपनी जरूरतों को पूरी करना चाहा। इसी प्रकार धर्म का विकास हुआ। धर्म की परिभाषा यों की जाती है :

"Man's brief in a being or beings mightier than himself and inaccessible to his senses, but not indifferent to his sentiments and actions, with the feeling and practises which follow from such belief" (Dr. Flint)

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्म और नीतिविज्ञान दोनों की ही उत्पत्ति मनुष्य की आध्यात्मिक भूख और अशान्ति से हुई है, दर्शन की तरह सिर्फ जिज्ञासा से नहीं। अतः स्वाभाविक है कि दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध हो। दोनों के सम्बन्धों के विषय में विभिन्न प्रकार के मत हैं।

डेकार्ट प्रभृति कुछ दार्शनिकों का ख्याल है कि नैतिकता की जननी धर्म है। धर्म के आधार पर हम ईश्वरीय शक्ति की कल्पना करते हैं और उसमें विश्वास करते हैं। इसलिये हम मानते हैं कि हमारा आचरण भी ईश्वर द्वारा संचालित होता है। ईश्वर ने एक नैतिक नियम की स्थापना की है जिसका पालन करना हमारे लिये अनिवार्य है। यदि हम ऐसा नहीं करते तो हमें ईश्वर के यहाँ दण्डित होना पड़ेगा। इसी विश्वास के चलते हममें शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित आदि नैतिक धारणाओं का विकास होता है। इस प्रकार नैतिक चेतना का जन्म हमारी धार्मिक चेतना से होता है।

किन्तु कान्ट तथा मार्टिन्यू आदि दूसरे विचारकों का कहना है कि धर्म की उत्पत्ति नैतिकता से होती है। उनका मत है कि हमारी नैतिक चेतना हमें बताती है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आचरण के अनुकूल सुखद अथवा दुखद अनुभूतियाँ होनी चाहिये। जो व्यक्ति नैतिक अथवा पुण्याचरण करते हैं उन्हे अन्ततोगत्वा सुख की प्राप्ति होनी चाहिये और जो दुराचारी हैं उन्हें दुख का भोग करना चाहिये। किन्तु अक्सर हम इस जीवन में देखते हैं कि कतिपय दुराचारी

व्यक्ति सुखी और समृद्ध होते हैं तथा पुण्यात्मा लोग कष्ट झेलते हैं। यह बात हमें असंगत जँचती है और इसी असंगति (inconsistency) को दूर करने के लिये हम ऐसा मानते हैं कि कम से कम आत्मा के जन्म-मरन के अन्तिम भाग में पुण्य और सुख का यह पारस्परिक विरोध न रहेगा। अभी नहीं तो अगले जन्मों में न्याय होगा और हर व्यक्ति को अपने आचरण के अनुरूप फलों की प्राप्ति होगी। अतः हमें यह भी मानना पड़ता है कि कोई ऐसी शक्ति है जो अन्त में न्याय करेगी और जिसके सहारे पवित्राचरण का यह सिलसिला कायम रहेगा। इस प्रकार नैतिक चेतना से ईश्वर और धर्म की सृष्टि होती है।

अब इन मतों में चाहे जो भी सही हो अथवा दोनों ही गलत हो, पर इस तरह के विचारों से कम से कम इतना स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में गहरा सम्बन्ध है। एक की उत्पत्ति दूसरे से बताने की जो हमारी चेष्टा होती है उससे इतना भर प्रमाणित हो जाता है कि दोनों एक दूसरे के पूरक अवश्य हैं।

वास्तव में सत्य तो यह है कि ये दोनों एक दूसरे के सहयोग के याचक हैं। नैतिक चेतना अपने विकास की चरम अवस्था में ईश्वर और धर्म की ओर इशारा करती है और इसीमें उसकी परिणति होती है। इसीलिये ऐसा देखा जाता है कि हर नैतिक व्यक्ति जीवन की अन्तिम अवस्था में धार्मिक भी हो जाया करता है। दूसरी ओर धर्म और धार्मिक विश्वासों की अभिव्यक्ति हमारे आचरण में होती है, जैसे पूजा-अर्चा, परोपकार, दयाशीलता आदि में। अतः दोनों ही एक दूसरे पर निर्भर हैं।

(ग) नीतिविज्ञान और मनोविज्ञान नीतिविज्ञान में हम यह जाँच करते हैं कि कौन सा कार्य नैतिक है और कौन अनैतिक अर्थात् क्या उचित है और क्या अनुचित। लेकिन किसी आचरण को उचित-अनुचित कहने के लिये यह आवश्यक है कि हम आचरण अथवा ऐच्छिक कार्यों के स्वभाव और गुणों को जाने। ऐच्छिक कार्यों की उत्पत्ति किस प्रकार, किन भावनाओं या संवेगों से कैसी परिस्थिति में होती है यह जानना आवश्यक है और यह मनोविज्ञान का विषय है। किस मानसिक स्थिति में किस प्रकार के कार्य होते हैं यह मनोविज्ञान ही जान सकता है।

नीतिशास्त्र में हमारे जितने सारे अन्वेषण होते हैं वे चेतना के विश्लेषण और परीक्षण पर आधारित होने चाहिये। हम जब कोई नैतिक निर्णय देते हैं तो इसका क्या विषय होता है हमारी इच्छा, उद्देश्य, प्रेरणा अथवा कार्य-फल यह भी मनोविज्ञान के अन्तर्गत पड़ता है। जबतक मानवीय चेतना का विशद ज्ञान हमें न हो तबतक उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर देना सम्भव नहीं। अतः नीति-शास्त्र मनोविज्ञान पर आधारित होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं। (Dr Sidgwick का कहना है कि "Almost all ethical schools would agree that the main object of their investigation must belong to the Pshychical side of human life."

लेकिन इतना होते हुए भी दोनों में काफी अन्तर है। पहला अन्तर तो यह है कि मनोविज्ञान का क्षेत्र नीतिविज्ञान के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। मनोविज्ञान में हम चेतना के तीनों पहलुओं Cognitive, affective & (Conative से सम्बन्ध रखते हैं। इसमें सम्पूर्ण चेतना और उसके सभी पहलुओं का अध्ययन किया जाता है किन्तु नीतिविज्ञान में ऐसा नहीं होता। इसके अन्दर हम केवल चेतना के एक पहलू संकल्प (Volition) अथवा Conation) का अध्ययन करते हैं, क्योंकि नीतिविज्ञान का सम्बन्ध केवल वाह्य आचरण से होता है। चेतना के अन्य पहलुओं की जो यदाकदा चर्चा होती है वह गौण रूप में।

इसके अतिरिक्त मनोविज्ञान एक वास्तवादी विज्ञान (Positive Science) है, पर नीतिविज्ञान आदर्शवादी अथवा विधायक विज्ञान (Normative अथवा Regulative Science) है। इसका फल होता है कि मनोविज्ञान सारी चेतन अथवा अचेतन अनुभूतियों का वर्णन भर करता है। जो कुछ वास्तव में जैसा होता है उसका उसी रूप में अध्ययन किया जाता है। संकल्पों अथवा (Volitions) के विषय में वह केवल इतना देखता है कि अमुक परिस्थिति में अमुक प्रकार का सकल्प होता है, न कि कैसा होना चाहिये। इसका सम्बन्ध उनके होने या न होने से होता है, चाहिये अथवा (Should या ought) से नहीं। आचरण के आदर्शों की चर्चा तो नीतिविज्ञान में होती है। सकल्पों का

हमारे नैतिक आचरण से क्या सम्बन्ध है इसकी व्याख्या मनोविज्ञान नहीं करता। अत विषय-वस्तु के कुछ अशों तक एक होने पर भी दोनों में स्वभावगत अन्तर है।

(घ) नीतिविज्ञान और समाज-विज्ञान समाजविज्ञान वह विज्ञान है जो समाज की रचना और उसके विकास का अध्ययन करता है। इस रूप में उसे समाज की प्रचलित प्रथायें, उसके विश्वासों और संस्थाओं की परीक्षा करनी पड़ती है और उनके सम्बन्ध मे सामान्य नियमों की स्थापना करनी होती है।

नीतिविज्ञान का समाजविज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध है इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रत्येक मनुष्य एक समाज का अग होता है। उसके विश्वास अथवा उसका आचरण पूर्णरूपेण वैयक्तिक ही नही होते, उनपर उसके समाज की छाप होती है। वह जो कुछ सोचता है अथवा करता है उसमें सामाजिक अवस्थाओं का योग होता है। वह समाज से अलग विश्वास अथवा आचरण बनाये रह नहीं सकता। अत जब कभी हम व्यक्ति के आचरण की व्याख्या करते हैं तो हमे कुछ सामाजिक परिस्थितियों, समाज की बनावट और व्यक्ति का उसके साथ सम्बन्ध आदि विषयों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। हम यों कह सकते हैं कि नैतिक और सामाजिक समस्यायें इस तरह एक दूसरे से मिलीजुली हैं कि उसी अनुपात मे नीतिविज्ञान और समाजविज्ञान का मिला-जुला होना आश्चर्यजनक नहीं है।

ऐसा घनिष्ट सम्बन्ध देखकर स्पेन्सर और स्टीफेन जैसे विकासवादी दार्शनिकों की तो यह धारणा है कि नीतिविज्ञान सामाजविज्ञान की एक शाखा मात्र है। उनका दावा है कि हमारे जो नैतिक विचार अथवा सिद्धान्त हैं वे सामाजिक विकास के प्रतिफल हैं, अत नीतिविज्ञान भी सामाजिक विकास का फल और इसलिये समाजविज्ञान का एक अग है।

पर यह धारणा भ्रान्तिमूलक है। ये लोग भूलते हैं कि नीतिविज्ञान की एक विशेष प्रकार की सत्ता है। नैतिक विचारों की उत्पत्ति चाहे कहीं से क्यों न हुई हो, नीतिविज्ञान की समस्या यह नहीं है। वह नैतिक विचारों के विकास की व्याख्या नहीं करता बल्कि उनकी सत्ता और स्वभाव का मूल्याकन करता है।

इसके अतिरिक्त समाज विज्ञान सामाजिक प्रथाओं, संस्थाओं आदि बाह्य वस्तुओं का अध्ययन करता है पर नीति विज्ञान मनुष्य की आन्तरिक अवस्था इच्छा, उद्देश्य आदि की परीक्षा करता है। फिर जहाँ समाजविज्ञान पूरे समाज को अपना विषय मानता है, नीति विज्ञान का विषय व्यक्ति और उसका आचरण होता है। समाजविज्ञान भी, मनोविज्ञान की तरह, वास्तववादी (Positive) है, पर नीतिविज्ञान, आदर्शवादी। अत. समाजविज्ञान सामाजिक धारणाओं और विश्वासों का वर्णन भर करता है, उनका मूल्यांकन नहीं करता और इसीलिये इसका उद्देश्य सैद्धान्तिक भर है। किन्तु नीतिविज्ञान यह देखता है कि इन सामाजिक प्रथाओं का मनुष्य की नैतिकता से क्या सम्बन्ध है और व्यक्ति के आचरण पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है। अतः यह व्यावहारिक है।

इस प्रकार घनिष्टता होते हुए भी नीतिविज्ञान और समाजविज्ञान में महत्वपूर्ण अन्तर भी हैं।

(ङ) नीतिविज्ञान और राजनीतिविज्ञान राजनीतिविज्ञान का विषय है सरकार और शासन का स्वरूप और उसके गुणों का अध्ययन करना तथा उसका आदर्श रूप स्थापित करना। वह ऐतिहासिक शासन पद्धतियों का अध्ययन करता है और उनके आधार पर यह निर्णय करता है कि इसका कौन सा स्वरूप, किस प्रकार के कानून अथवा संस्थाओं से समाज का अधिकाधिक कल्याण हो सकता है। इस प्रकार यह भी एक विज्ञान है और आदर्शवादी तथा व्यावहारिक है।

अब हमें देखना है कि इनके बीच अन्तर क्या-क्या हैं।

(१) सर्वप्रथम, तो राजनीतिविज्ञान वस्तुनिष्ठ (Objective) है क्योंकि यह बाह्य आचरण की परीक्षा कर यह देखता है कि समाज का इससे मंगल है अथवा अमंगल और उसके आधार पर अपना निर्णय देता है। पर नीतिविज्ञान आत्मनिष्ठ (subjective) हैं। क्योंकि यह आचरण के मानसिक स्रोत अथवा प्रेरणा का अध्ययन करता है।

(२) दूसरे, राजनीतिविज्ञान प्रधानतः सामुदायिक अथवा राष्ट्रीय कल्याण से सम्बद्ध होता है। और व्यक्ति के कार्यों की आलोचना वह सिर्फ यह देखने के लिये करता है कि समाज पर इस आचरण का क्या प्रभाव होगा। पर नीतिविज्ञान में व्यक्ति ही सब कुछ है।

(३) तीसरे, राजनीतिविज्ञान जहाँ चतुरता (expediency) पर आधारित होता है, नीतिविज्ञान उचितता अथवा पुण्याचरण पर। किसी भी साधन से यदि समाज का कल्याण हो सकता है तो राजनिति में ऐसा ही करना चाहिये, पर नीतिविज्ञान में सभी फायदेमन्द तरीकों को अपनाने की आजादी नहीं होती। नीतिविज्ञान के लिये यह असत्य है कि "End justifies the means"

(४) अन्त में यह कहा जा सकता है कि नैतिक और राजनैतिक नियमों का पालन विभिन्न कारणों से विभिन्न रूपों में होता है। जहाँ राजनैतिक कानून बाहर से लादा जाता है वहाँ नैतिक नियम अपने अन्तस्तल की उपज होती है। यदि बाहरी जोर-जबर्दस्ती से मनुष्य नैतिक व्यवहार करे तो वह सही अर्थ मे नैतिक नहीं। नैतिक नियम का पालन करने में हृदय में एक आनन्द का अनुभव होना चाहिये। तभी वह नैतिकता की कोटि में आयेगा।

Q. 4. What do you understand by : Good and Evil, Right and Wrong; Duty and obligation; virtue, Merit and Highest Good. Also explain the fundamental Indian concepts.

शुभ-अशुभ (Good and evil) हम अपने नैतिक निर्णयों में बराब ही शुभ अशुभ आदि का प्रयोग करते हैं। ये दोनों ही शब्द सापेक्ष (Relative हैं। नैतिक निर्णयों के अतिरिक्त भी हम इनका प्रयोग करते हैं। अतः कु अस्पष्टता आ जाती है। इसलिये अच्छा है कि हम इनके बदले उचित औ अनुचित (Right and wrong) का प्रयोग करें।

(Good and Bad) शब्दों का प्रयोग हम साधारणतया दो अर्थों में करते हैं। शुभ शब्द का संकेत मूल्य (Value) अथवा आदर्श (Ideal) की ओर होता है। कभी-कभी हम इस आदर्श के साधनों के लिये शुभ शब्द का प्रयोग करते हैं और कभी स्वयं उस आदर्श अथवा मूल्य के लिये। यहां कहां पहले के लिये सापेक्ष शुभ (Relative Good) का प्रयोग होता है और दूसरे के लिये निरपेक्ष शुभ (Absolute Good) का। अतः दोनों अर्थों के विश्लेषण से यही पता चलता है कि शुभ या तो वह है जो स्वयं आदर्श हो अथवा किसी आदर्श को प्राप्त करने का मूल्यवान साधन हो। उसी प्रकार अशुभ वह है जो न तो स्वयं कोई आदर्श हो और न किसी आदर्श की प्राप्ति का साधन हो, अर्थात् जिसका किसी आदर्श अथवा उद्देश्य के लिये कोई मूल्य ही न हो।

निःश्रेयस (Highest Good) हमने अभी-अभी निरपेक्ष शुभ (Absolute Good) की चर्चा की है। निरपेक्ष शुभ वह है जो स्वयं आदर्श अथवा मूल्य (Value) हो और साधनमात्र न हो। यह निःश्रेयस (Highest Good या Supreme Good) के नाम से पुकारा जाता है। निःश्रेयस वह है जो सम्पूर्ण मानव जीवन का लक्ष्य हो। केवल साधनमात्र होने से अथवा निरपेक्ष शुभ होने से उसका इशारा अपने से परे किसी दूसरे आदर्श की ओर होता है। किन्तु जो निरपेक्ष शुभ अथवा (Highest Good) है वह स्वयं साधन और आदर्श है, वह स्वयं ही आदर्श है अथवा (Intrinsic Good) है। यह मानव जीवन का परम आदर्श या लक्ष्य होता है जिसकी प्राप्ति के लिये मानव का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रयासील होता है। लेकिन यह परम आदर्श क्या है इसके विषय में विचारकों में काफी मतभेद है।

इसी प्रश्न को लेकर नीतिविज्ञान में विभिन्न सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है। सुखवादी (Hedonist) लोगों का यह मत है कि यह परम आदर्श सुख अथवा Pleasnre है और उसी की प्राप्ति हमारा अभीष्ट होना चाहिये। बुद्धिवाद के अनुसार हमारे अन्तःकरण का आदर्श ही हमारा आदर्श है। उसी के

अनुसार हमें चलना चाहिये और शुभ की प्राप्ति में लगा रहना चाहिये। आदर्शवादियों (Eudaemonists) का मत है कि हमारी सारी इच्छायें दो प्रकार की होती है, पाशविक और मानवीय और हमें इन दोनों को एक दृष्टि से देखना चाहिये। बुद्धिवाद के अनुसार पाशविक इच्छायें त्याज्य हैं किन्तु आदर्शवाद का कहना है कि हमारे व्यक्तित्व का आवश्यक अंग होने के नाते इसके प्रति भी हमें न्याय करना आवश्यक है। अत हमारा आदर्श होना चाहिये जीवन के हर पहलू के साथ न्याय करते हुए पूर्णता (Perfection) की प्राप्ति। इस प्रकार चरम लक्ष्य के विषय मे विभिन्न मत प्रचलित हैं।

उचित-अनुचित (Right & Wrong) ये शब्द भी नैतिक निर्णयों में बराबर प्रयुक्त होते हैं और Good & Bad अथवा Evil की तरह ये भी सापेक्ष (Relative) हैं। हम जानते हैं कि नीतिविज्ञान का कार्य ही नैतिक-अनैतिक अथवा उचित-अनुचित का भेद बताना है।

अँगरेजी शब्द Right की उत्पत्ति Rectus से हुई है जिसका अर्थ होता है सीधा या नियम के अनुसार (Straight or Conforming to law)। उसी प्रकार Wrong शब्द wring से बना है। जिसका अर्थ होता है टेढ़ा या मरोड़ा हुआ (crooked or twisted)। इस प्रकार किसी कार्य को हम उचित तब कहेंगे जब वह नियम के अनुकूल हो। और नियम के विपरीत होने पर उसे हम अनुचित कहते हैं।

इस प्रकार उचित-अनुचित में नियम या कानून (rule) की भावना अन्तर्निहित होती है। यह नियम स्पष्ट अथवा अस्पष्ट (Implicit or explicit) दोनों ही हो सकता है, लेकिन किसी रूप में जब तक कोई नियम न हो हम उचित-अनुचित की चर्चा नहीं कर सकते। नैतिक नियम वाह्य (externally imposed) नहीं बल्कि आन्तरिक हुआ करता है।

किन्तु यह नियम स्वयं ही किसी उद्देश्य अथवा आदर्श की प्राप्ति का साधन होता है, क्योंकि नियम स्वयं आदर्श नहीं हो सकता। अत. नैतिक नियम भी

किसी आदर्श को अस्पष्ट रूप में मानता है। जो कार्य उस आदर्श का साधक होता है। वह उचित और जो वाधक होता है वह अनुचित होता है।

कर्त्तव्य और दायित्त्व (Duty & oligation) उचित-अनुचित आदि की चर्चा से ही स्पष्ट हो जाता है कि नीतिविज्ञान में हम मानवीय आचरण का आदर्श खोजते हैं। इस आदर्श की प्राप्ति में जो कार्य सहायक होते हैं उन्हें सिर्फ उचित अथवा शुभ कहकर ही हम चुप नहीं रह सकते। इन कार्यों को करना हमारा कर्त्तव्य (Duty) भी हो जाता है। कर्त्तव्य हम उन्हे कहते हैं जो हमें करना चाहिये। नैतिक और सामाजिक होने के लिये जिन जिन कार्यों का करना आवश्यक है वे सभी हमारे कर्त्तव्य हैं। इसीलिये आचार-दर्शन कर्त्तव्याकर्त्तव्य का शास्त्र भी कहलाता है।

अब Duty अथवा कर्त्तव्य का दूसरा भी पहलू है। हमारे कर्त्तव्य जब निर्धारित हो जाते हैं तो उन्हें सम्पन्न करने का भार हम पर होता है। हम उन्हें छोड़कर नैतिक नहीं कहला सकते। जो हमारे लिये कर्त्तव्य हैं उनको करना हमारा दायित्त्व (obligation) है। यह बात केवल नैतिक क्षेत्र में ही सही नहीं है। वाह्य कानूनो के जरिये भी हमारे जो कर्त्तव्य निधारित कर दिये जाते हैं उन्हें करना हमारे लिये लाजिम है। लेकिन नैतिक दायित्त्व एक दूसरी कोटि का होता है। उसमें हमारा दायित्त्व वाहरी दबाव के कारण नहीं होता। हम नैतिक कर्त्तव्यों का पालन इसलिये नहीं करते कि उनके न करने से हमें राजकीय अथवा अन्य दण्ड का भोग करना होगा। नैतिक दायित्त्व तो हम स्वेच्छा से अपने उपर लेते हैं। यह हमारी आत्मा की पुकार होती है। इस प्रकार हमारा नैतिक दायित्त्व सिर्फ शुभ की प्राप्ति है और जो अशुभ है उसका त्याग भी एक प्रकार से हमारा दायित्त्व होता है।

धर्म-अधर्म (Virtue and vice) अपने कर्त्तव्यों को जान लेने के पश्चात उन्हें कार्य रूप में लाना हमारा दायित्त्व होता है। इसे ही हम कभी इस प्रकार भी कहते हैं कि अमुक कार्य करना मेरा धर्म है। इस प्रकार जितने सारे कर्त्तव्य हैं वे हमारे धर्म हैं। अभ्यासवश कर्त्तव्य करने से हम धर्म का

उपार्जन करते हैं और यदि उससे हिचकते हैं तो हम अधर्मी बनते हैं। इस प्रकार धर्म हमारे चरित्र की उत्कृष्टता का द्योतक है और अधर्म पतन अथवा दोष का। यहाँ धर्म Religion नहीं बल्कि एक नैतिक धारणा के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

धर्म और अधर्म की इस धारणा के अनुसार हम कुछ ऐसे कर्त्तव्यों का ज्ञान प्राप्त करते हैं जिनके पालन में सदा ही धर्म है। ऐसे धर्म (Virtue) अनेक हैं जैसे परोपकार, सत्यवादिता, अहिंसा आदि। इनमें से कुछ तो भावात्मक (Positive) हैं जैसे, परोपकार और कुछ अन्य अभावात्मक (Negative) जैसे अहिंसा, क्योंकि इसमें हम भावात्मक रूप मे यह नहीं कहते कि ऐसा करना चाहिये। अहिंसा का अर्थ होता है हिंसा नहीं करना अथवा उससे बचना। इस प्रकार यह अभावात्मक धर्म है।

पुण्य और पाप (Merit & demerit)—इन दोनों का अर्थ कभी धर्म और अधर्म के रूप मे ले लिया जाता है। लेकिन ऐसा विचार गलत है। धर्म अधर्म से चारित्रिक गुण दोष का पता चलता है लेकिन पाप और पुण्य हमारे किये कार्यों के फल के द्योतक हैं। हम जो भी कार्य करते हैं उनका फल अवश्य होता है। इन्हीं फलों के ऊपर हमारे इस जीवन का सुख-दुख तथा अगला जन्म आदि पर निर्भर रहता है। यदि हम सत्कार्य करते हैं तो हमें पुण्य लाभ होता है अन्यथा हम पाप के भागी होते हैं। यही पुण्य और पाप संस्कार के रूप में हमारे लिये सजाये रहते हैं और इन्हीं के अनुरूप हमारा अगला जन्म, जाति, गोत्र आदि सभी होते हैं। अत: अपने जीवन की सुख-सुविधा के लिये हमें पुण्य कमाना चाहिये और इसीलिये हम धर्माचरण करते हैं अथवा अपने कर्त्तव्य करते हैं।

इन सब के अतिरिक्त कुछ ऐसी नैतिक धारणायें हैं जो पूर्णतया भारतीय हैं। अब उनकी भी चर्चा हमें कर लेनी है।

पुरुषार्थ भारतीय दर्शन में इस शब्द का प्रयोग बहुलता से किया गया है। इसका शाब्दिक अर्थ होता है वह जो पुरुष के अर्थ हो (पुरुष + अर्थ)

अथवा पुरुष के लिये लाभदायक हो। मनुष्य जीवन का उद्देश्यपूर्ण होना आवश्यक है। अन्यथा वह पशु से भी बदतर है। इन्हीं उद्देश्यों अथवा लक्ष्यों को पुरुषार्थ का नाम दिया गया है। प्रत्येक व्यक्ति को पुरुषार्थ की प्राप्ति के हेतु चेष्टा करनी चाहिये। यदि ऐसा न हो तो उस व्यक्ति का जीवन निरर्थक है। जीवन के चरम आदर्शों के सम्मिश्रण को ही हम पुरुषार्थ को सज्ञा देते हैं।

भारतीय दर्शन में मनुष्य के पुरुषार्थ निर्धारित हैं। वे चार प्रकार के हैं अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। चार्वाक भौतिकवादियों को छोड़कर और सभी दर्शन इसबात से सहमत हैं कि पुरुषार्थ यही चार हैं। सिर्फ चार्वाक का कहना है कि अर्थ और काम—ये ही दो पुरुषार्थ हैं। उनके लिये धर्म और मोक्ष निरर्थक हैं। अर्थ (Wealth) का मतलब होता है वे भौतिक साधन जिनसे जीवन में सुख-सुविधा की प्राप्ति होती है। धर्म (Virtue) वे सद्गुण अथवा कर्तव्य हैं जो मोक्ष प्राप्ति में सहायक होते हैं। काम (Sex अथवा Desire) का अर्थ होता है इन्द्रिय जन्य सुखों को प्राप्ति और मोक्ष का मतलब होता है विश्व के दुख-दैन्य से छुटकारा पाकर परमानन्द की प्राप्ति।

दैव और पुरुषकार भारतीय आचार-शास्त्र की एक और विशेषता ध्यान देने योग्य है। हम नीतिविज्ञान में किसी के कार्यों अथवा चारित्रिक गुण-दोषों की विवेचना करते हैं। अब प्रश्न उठता है कि क्या मानव अपने सारे कार्यों का कर्त्ता स्वयं है अथवा दूसरी भी कोई शक्ति है। अगर मानव अपना पूर्ण नियन्त्रिक नहीं है तो फिर उसके कार्यों की आलोचना करना कहाँ तक उचित है?

अब एक ओर तो हम कहते हैं कि मनुष्य स्वयं अपना भाग्य-विधाता है, अपने उद्योग और परिश्रम से ही व्यक्ति अपने चरित्र और भाग्य का निर्माण करता है। दूसरी ओर हम यह भी कहते हैं कि विधि की लीला अथवा दैवी शक्ति से ही ऐसा हुआ है। हम कभी-कभी ऐसा कहते हैं कि अपने किये कुछ नहीं होता, सब दैव के हाथ है। इस प्रकार मानवीय कार्यों के दो कर्त्ता (Agents) देखने में आते हैं एक तो स्वयं पुरुष और उसकी शक्ति और

दूसरा, दैव अथवा ईश्वर। ऐसी हालत में तो मनुष्य अपने कार्यों का सम्पूर्ण रूप से जिम्मेदार नहीं होता। उसके अतिरिक्त कोई दूसरी शक्ति है। तब फिर हम उसके कार्यों को उचित अथवा अनुचित क्यों कहे ?

इसका उत्तर यह दिया जाता है कि वास्तव में जिसे हम दैव कहते हैं वह कोई अनजानी सत्ता नहीं है बल्कि हमारे ही पूर्ण कर्मों का एकत्रीकरण है। हम जानते हैं कि हमारे सारे कर्मों के फल सुरक्षित रहते हैं क्योंकि "कृतप्रनाशम नास्ति" (किये हुए का नाश नहीं होता)। और यही एकत्रित कर्म संस्कार के रूप में हमारे भाग्य का संचालन करते हैं। इसे हम 'दैव' कहें, 'अपूर्व' कहें अथवा और कुछ। इस प्रकार दैव नामक दूसरी शक्ति की जो हम बात करते हैं वे भी हमारे कर्मों के ही फल हैं। इस प्रकार हमारा ही पौरुष और हमारे ही संचित कर्म हमारे भाग्य-विधायक हैं इनके अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं।

Q. 5 Describe the nature of moral judgment and discuss its postulates.

नैतिक निर्णय का स्वभाव नैतिक निर्णय हम उस निर्णय को कहते हैं जिसमें हम किसी कार्य अथवा व्यक्ति की नैतिकता अथवा अनैतिकता का वर्णन करते हैं। दूसरे शब्दों में, जब हम किसी कार्य के विषय में यह निर्णय देते हैं कि यह उचित है अथवा अनुचित तो इसे हम नैतिक निर्णय कहते हैं। इस प्रकार नैतिक निर्णय मे हम किसी कार्य को उचित अथवा अनुचित के विशेषण से विभूषित करते हैं।

विश्लेषण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैतिक निर्णय के लिये निम्न-लिखित वस्तुओं की आवश्यकता होती है: (१) सर्वप्रथम तो एक विषयी (Subject) जो निर्णय देता है (२) दूसरे, एक विषय (object) जिसके सम्बन्ध में हम निर्णय देते हैं, (३) तीसरे, एक आदर्श अथवा मापदण्ड (Standard) जिससे तुलना कर हम किसी विषय का गुण-दोष बताते हैं और (४) अन्तिम एक शक्ति अथवा गुण विशेष (faculty) जिसकी सहायता से विषयी निर्णय देने में सफल होता है।

यहाँ याद रखने की बात यह है कि नैतिक निर्णय तार्किक निर्णय से भिन्न स्वभाव का है। तार्किक निर्णय हम निरपेक्ष रूप से किसी वस्तु के विषय में देते हैं (about an object) किन्तु नैतिक निर्णय किसी वस्तु 'पर' दिया जाता है (upon an object)। इसका अर्थ यह होता है कि नैतिक निर्णय केवल किसी वस्तु की चर्चा अथवा वर्णन ही नहीं करता बल्कि उसका मूल्यांकन भी करता है। नैतिक निर्णय किसी नियम अथवा मापदण्ड से किसी आचरण की तुलना कर इसे उचित अथवा अनुचित बताता है। इसी अर्थ में हम नीतिविज्ञान को आदर्शवादी कहते हैं। Prof Muirhead का कहना है कि "There is a Distinction between a judgment *of* fact and judgment *upon* fact, corresponding to the distinction between judgment in its logical sense of proposition and judgment in its judicial sense of sentence."

इस प्रकार नैतिक निर्णय स्वभावतः आलोचनात्मक, विधायक, आदर्शसूचक और व्यावहारिक होता है। नैतिक निर्णय की रचना साधारणत. इस प्रकार होती है। हम किसी आचरण विशेष को देखते हैं और इस सम्बन्ध में प्रचलित आदर्श का हमें स्मरण हो आता है। अब हम इस आदर्श से उस आचरण की तुलना करते हैं और तब देखते हैं कि वह इसके अनुरूप है अथवा नहीं। इस तरह यहाँ एक सामान्य नियम अथवा मापदण्ड (standard) से हम किसी विशेष कार्य की उचितता का अन्दाज करते हैं। इस अर्थ में नैतिक निर्णय भी अनुमान जन्य होता है, क्योंकि कार्य में स्वयं उचित अथवा अनुचित का गुण प्रत्यक्ष रूप से विद्यमान नहीं रहता, बल्कि अपने विवेक और बुद्धि के प्रयोग से यह गुण आरोपित करते हैं।

लेकिन इस हिसाब से भी नैतिक निर्णय तार्किक निर्णय से भिन्न होता है। यह तार्किक दृष्टि से शुद्ध अथवा अशुद्ध हो सकता है। लेकिन तार्किक शुद्धि अथवा अशुद्धि के कारण उसमें नैतिक गुण-दोष नहीं आता। इसका तात्पर्य यह

है कि नैतिक निर्णय स्वयं निर्णय का विषय (object) नहीं होता है बल्कि निर्णय का विषय कुछ दूसरा होता है।

नैतिक निर्णय की मान्यतायें (postulates)––प्रत्येक विज्ञान की तरह नीतिविज्ञान की भी कुछ मान्यतायें हैं जिस प्रकार ज्यामिति में आकाश (Space) या भौतिक विज्ञान में भूत (matter) का अस्तित्व मान लिया जाता है उसी प्रकार यहाँ भी कुछ धारणायें मान ली जाती हैं जिनके बगैर नीतिविज्ञान सम्भव ही नहीं है। ये मान्यतायें तीन है. (१) व्यक्तित्व (personality), (२) विवेक (Reason) और (३) इच्छा स्वतन्त्र्य (freedom of will)।

(१) Personality नीतिविज्ञान की सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण मान्यता है व्यक्तित्व। इसमें हम किसी आचरण के गुण-दोषों का विवेचन करते हैं, लेकिन यदि आचरण करनेवाला ही कोई न हो तो फिर नैतिक निर्णय का विषय ही नहीं नहीं रह जायगा। दूसरी बात है कि नैतिक निर्णय ऐच्छिक क्रियाओं पर दिया जाता है। इसका अर्थ है कि जब तक कोई मनुष्य इच्छा करके कोई कार्य न करे तब तक नीतिविज्ञान का कार्य ही नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त हमने देखा है कि नीतिविज्ञान में हम एक नैतिक नियम के आधार पर निर्णय देते हैं। अतः आवश्यक है कि आचरण करनेवाले को इस नियम का ज्ञान हो और वह जानबूझकर इसके अनुकूल या प्रतिकूल कोई कार्य करे। यदि एक अबोध बालक कोई अनैतिक कार्य कर डालता है तो उसे हम क्षम्य मानते हैं। इसका कारण है कि उसे नैतिक नियम का ज्ञान नहीं है। इस प्रकार हम पाते हैं कि नीतिविज्ञान के लिये व्यक्ति का कर्त्ता (agent) के रूप में होना हर हालत में आवश्यक है। (Calderwood) का कहना है कि

"Personality is the basis of morality. Where there is no knowledge of self, as the intelligent source of action, there is no discrimination of motive, act and end and where such discrimination does not exist, there is no morality The knowledge of moral distinctions, and the practice of morality, are, in such a case equally impossible."

अब सवाल यह उठता है कि व्यक्तित्व (personality) से हमारा क्या तात्पर्य होता है। व्यक्ति अथवा persone हम किसे कहते हैं?

व्यक्तित्व की धारणा में दो बातें निहित हैं (क) आत्म चेतना (Self-Conscioness) और आत्म-नियन्त्रण की शक्ति (power of self control)। व्यक्ति हम उसे ही कह सकते हैं जो अपने कार्यों, अपने भावों और सवेगों के विषय में चेतन है। जब वह कोई कार्य करे तो यह जरूरी है कि वह यह भी समझे कि यह कार्य मेरा है। यदि यह संज्ञा किसी मनुष्य को न हो तो उसे हम उचित रूप से व्यक्ति नहीं कह सकते।

लेकिन इतना ही आवश्यक नहीं। साथ-साथ यह भी जरूरी है कि वह मनुष्य अपने कार्यों और आचरण का स्वय नियंत्रण भी कर सके। यदि उसकी कोई इच्छा हो भी, पर वह उसके अनुकूल आचरण करने में असमर्थ हो तो भला उसे हम किस प्रकार बन्धन मे डाल सकते हैं? यदि वह नैतिक आचरण ही करना चाहे और किसी दूसरी शक्ति के कारण विवश होकर ऐसा न कर सके, तो इसमें उसका क्या कसूर? अतः आत्म-चेतना के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर सके। इस प्रकार व्यक्तित्व के लिये इन दोनों गुणों का होना जरूरी है और इनके विना नैतिक निर्णयों में कोई अर्थ ही नहीं रह जायगा।

(२) विवेक (Reason) यह दूसरी मान्यता पहली, व्यक्तित्व में ही अन्तर्निहित है। नैतिक आचरण करने के लिये अथवा नैतिक दायित्व समझने के लिये विवेक का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। हमने देखा है कि यदि व्यक्ति को नैतिक-अनैतिक समझने की शक्ति ही न हो तो उसके आचरण पर नैतिक निर्णय देना सर्वथा निरर्थक है कोई पागल अथवा विवेक शून्य व्यक्ति यदि घोर अपराध अथवा अनीति भी कर डाले तो उसे हम दुराचारी कहकर उसकी निन्दा नहीं करते, वल्कि वुद्धि हीन समझ कर उसे सहानुभूति और दया की दृष्टि से देखते हैं। अज्ञान अथवा वुद्धि के कारण अनैतिक आचरण करने से उसका दायित्त्व व्यक्ति पर

नहीं होता। इसलिये आवश्यक है कि कर्त्ता को शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित और नैतिक आदर्श आदि का ज्ञान हो और इन सब को समझने की शक्ति हो।

(३) इच्छा-स्वातंत्र्य (Freedom of will) इसकी भी महत्ता व्यक्तित्व में ही निहित है। हमने देखा है कि व्यक्ति को आत्म-नियन्त्रण की शक्ति होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में मनुष्य को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिये कि वह खास किस्म की इच्छायें कर सके। संकल्प अथवा (Volition) में अगर वह स्वतन्त्र न रहे तो उसके ऊपर नैतिक बन्धन हो ही नहीं सकता।

हम जानते हैं कि नैतिक निर्णय ऐच्छिक कार्यों (Voluntary actions) पर दिया जाता है। अब ऐच्छिक कार्यों का एक आवश्यक अंग होता है विरोधी संकल्पों में द्वन्द (Conflict of motives)। इस Conflict अथवा द्वन्द का समाधान व्यक्ति, स्वयं करता है। वह सारी बातें अपना हित-अहित, नीति-अनीति आदि-सोचकर इस समय एक निर्णय करता है और इनमें से किसी एक संकल्प को कार्यरूप में परिणत करने का प्रयास करता है। इस प्रकार यह सम्भव ही नहीं कि बिना इच्छा-स्वातान्त्र्य के इस संघर्ष अथवा Conflict का नाश हो सके। यदि यहाँ इन विरोधी संकल्पों में से एक को चुन लेने (Deliberation) की शक्ति मनुष्य में न हो तो ऐच्छिक कार्य (Voluntary action) नाम की कोई चीज ही न रह जायगी। इसीलिये कहा गया है कि

"Moral judgment credits the ego with a selecting power between two possibilities, and stands or falls with this."

यदि इच्छा स्वातन्त्र्य न हो तो दायित्व नाम की वस्तु निरर्थक हो जायगी। यदि किसी दैवी शक्ति अथवा अन्य प्रबल कारण के वशीभूत होकर आदमी कोई आचरण कर डालता है तो इसका दायित्व किस पर होगा? न्यायानुसार तो उस बाह्य शक्ति पर ही होना चाहिये, क्योंकि इसमें तो उस व्यक्ति का हाथ ही नहीं है। अतः जब कुछ विचारक यह कहते हैं कि नैतिकता के लिये इच्छा-

स्वातन्त्र्य आवश्यक नहीं तो वे यह बात भूल जाते हैं कि इसके बिना नीतिविज्ञान की आधारभूत धारणायें ही ही निरर्थक हो जायेंगी।

इसके अतिरिक्त कान्ट (Kant) का कहना है कि हम जभी कहते हैं कि हमें ऐसा करना 'चाहिये' तो हम आन्तरिक रूप से, यह भी मान लेते हैं कि हम चाहें तो हम ऐसा कर भी सकते है यदि कर्म करने की क्षमता न हो तो 'चहिये' (*S*hould) का कोई मतलब न होगा। इसहिये वे कहते हैं कि "Thou *oughtest* implies thou *Canst*" इस तरह नैतिक निर्णय के स्वरूप में ही इच्छा-स्वातन्त्र्य और कार्य करने की क्षमता अन्तर्निहित है।

Q. 6. Describe actions moral and non-moral and give an analysis of voluntary actions

नैतिक कार्यों का मतलब होता है ऐसे कार्य जिनमें उचित अथवा अनुचित नामक नैतिक गुण का समावेश होता है और जो नैतिक निर्णयों के विषय हो सकते हैं। इसके विपरीत नीतिशून्य कार्य वे हैं। जिनके विषय में उचित-अनुचित का प्रश्न ही नही उठ सकता और इस प्रकार जो नैतिक निर्णयो के क्षेत्र से बाहर पड़ते हैं।

नैतिक शब्द का प्रयोग साधारणत दो अर्थों में किया जाता है। वृहत अर्थ में नैतिक से हमारा मतलब होता है नीतिविज्ञान सम्बन्धी अथवा जो नैतिक निर्णय का विषय बन सके। इसका विपरीतार्थक होता है नीतिशून्य (non-moral)। किन्तु कभी-कभी हम नैतिक शब्द का प्रयोग उचित के प्रर्याय के रूप में भी करते हैं जैसे, हम किसी उचित और नीतिसंगत कार्य के के विषय में यह कहते हैं कि यह नैतिक है। यहाँ 'नैतिक' का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया गया है और इसका विपरीतार्थतक होगा अनैतिक (immoral) इस प्रकार संकुचित अर्थ मे अगर कोई कार्य अनैतिक हो भी तो, वह वृहत् अर्थ में नैतिक (object of moral judgement) हो सकता।

लेकिन अपने वर्त्तमान विवेचन में हम 'नैतिक' शब्द का प्रयोग बृहत् अर्थ में करेंगे। अब हमें देखना है कि कौन से कार्य बृहत् अर्थ में नैतिक हो सकते हैं और कौन-कौन नीतिशून्य ?

नैतिक सिर्फ वे ही कार्य हो सकते हैं जो ऐच्छिक अथवा उद्देश्यपूर्ण हैं (Voluntary and intentional) ऐच्छिक कार्य का अर्थ होता है वैसा कार्य जो किसी विवेकशील प्राणी के द्वारा जान बूझकर किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किया गया हो। जो कार्य अनायास या निरुद्देश्य हो जाता है वह नैतिक नहीं हो सकता।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कतिपय ऐसे कार्य हो सकते हैं जो नैतिक न हों। प्राकृतिक घटनायें, जैसे आँधी, तूफान, बाढ़, भूकम्प इत्यादि नैतिक निर्णय के विषय नहीं हो सकते। क्योंकि इनका होना न होना किसी मानवीय शक्ति पर निर्भर नहीं है। अतः इसका दायित्व किसी व्यक्ति पर नहीं हो सकता।

जानवरों और निर्जीव पदार्थों के द्वारा अथवा उनके कारण से हुए कार्य नैतिक निर्णय के बाहर होंगे इसका कारण यह है कि इन सब में न तो विवेक होता है और न ये सोच समझकर काम कर सकते हैं। यदि एक कुत्ता किसी भूखे व्यक्ति के आगे से उसका पत्तल उठाकर भाग जाय तो उसे हम उचित-अनुचित की शिक्षा नहीं देने लग जाते क्योंकि हम जानते हैं कि यह विवेक शून्य प्राणी है।

इसी प्रकार अबोध बालकों और पागलों के कार्यों में हम उचित-अनुचित की छानबीन नहीं करने लगते। कोई बच्चा अगर बड़ा-से-बड़ा अपराध भी कर डाले, तो हम उसे क्षमा कर डालते हैं। अथवा यदि कोई पागल महान सामाजिक क्षति कर डाले, तो उसे हम नैतिकता के अनुसार दोषी नहीं ठहराते। समाज के कल्याणार्थ ऐसे व्यक्ति को पकड़कर हम जेल में भले ही डाल दें, पर नीति-अनीति का विचार हम नहीं करने लगते, क्योंकि हम जानते हैं कि इसे नैतिक नियम का ज्ञान नहीं है।

विवेकशील, वयस्क और प्राकृतिस्थ (normal) व्यक्तियों के भी बहुत से कार्य ऐसे होते हैं जिनके लिये व्यक्ति जवाबदेह नहीं हो सकता। आकस्मिक रूप से हो जानेवाले कार्य (accidental acts) नैतिक गुण-अवगुण के परे होते हैं। सम्मोहन अवस्था (Hypnosis) में मनुष्य अपने कार्यों के प्रति चेतन नहीं रहता वह तो सम्मोहन करनेवाले के आदेशों (suggestions) का गुलाम होता है और उन्हीं आदेशों के अनुसार कार्य करता जाता है। अत: ऐसे कार्य नैतिक निर्णय के विषय नहीं हो सकते।

इस प्रकार (i) प्रत्यावर्त्तन क्रियायें (Reflex actions),

(ii) अनियमित क्रियायें (Irregular actions)

(iii) नैसर्गिक व्यवहार (Supernatural behaviour)

(iv) भावना जन्य क्रियायें (Impulsive or Instinctive actions)

(v) संवेगों के सहज प्रकाशन (Actions resulting from spontaneous outflow of energy)

तथा (vi) आकस्मिक क्रियायें (accidental acts)

ये सभी नीतिशून्य कर्म होते हैं। इन्हें उचित अथवा अनुचित कहना या इनमें नैयिक गुण दोषों की खोज करना निरर्थक है। इन सभी कार्यों को अनैच्छिक (non-voluntary) कहा जाता है। लेकिन अभ्यास-जन्य कार्य (Habitual actions) अनैच्छिक होने पर भी भी नैतिक निर्णय के विषय होते हैं क्योंकि उनका प्रारम्भ ऐच्छिक होता है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता हो कि केवल ऐच्छिक कर्म (Voluntary actions) ही नैतिक निर्णय के विषय होते हैं। वे कर्म जो इच्छापूर्वक और सोच-समझकर लिये जाते हैं केवल वे ही उचित-अनुचित के दायेरे में आ सकते हैं। अब ऐच्छिक कर्यों की तीन अवस्थायें होती हैं (१) मानसिक स्थिति (Mental stage) (२) शारीरिक स्थिति (organic & Bodily Stage) तथा (३) दृश्य परिणामों की स्थिति (the stage of complection or consequences।

मानसिक स्थिति (Mental stage) (क) कर्म की प्रेरणा (Spring of action) हर ऐच्छिक कर्म के पीछे कोई प्रेरणा अथवा अभाव का होना आवश्यक है। अपने अभावों अथवा अपूर्णता की संज्ञा से हमारे अन्दर बेचैनी की एक भावना पनप उठती है। यही हमारे ऐच्छिक कार्यों की जननी है। हमारी यह जरूरत अथवा अभाव या तो वर्तमान समय में किसी वस्तु की कमी हो सकती है अथवा भविष्य की किसी आवश्यकता की संज्ञा हो सकती है। विवेकशील होने के कारण हम आगे-पीछे की बातें भी सोच-समझ सकते हैं। अतः कभी-कभी ऐसा होता है कि तत्काल कोई जरूरत न होने पर भी किसी भावी अभाव अथवा कमी के कारण हमें बेचैनी का अनुभव होने लगता है। अथवा ऐसा भी होता है कि अपनी कोई कमी न भी रहे तो दया अथवा सहानुभूति की भावनाओं के कारण हम दूसरे किसी के अभाव से अपने को एकीकृत कर डालते हैं और उसके चलते भी हमारे अन्दर यह बेचैनी आ जाती है। इस तरह इसी जरूरत अथवा अभाव से कर्मों की उत्पत्ति होती है।

(ख) प्रयोजन अथवा उद्देश्य (Motive) इस अभाव अथवा कमी की वजह से हम अपनी बुद्धि का प्रयोग करते हैं और अपने पिछले अनुभवों के आधार पर इस कमी की पूर्ति करनेवाली किसी वस्तु के विषय में सोच डालते हैं। हम सिर्फ इस वस्तु के विषय ही नहीं सोचते, बल्कि उसकी प्राप्ति के साधनों का भी अनुमान कर डालते हैं।

उसी वस्तु की अथवा इसकी प्राप्ति के लिये वातावरण में जो अदलबदल आवश्यक है। उस अवस्था की प्राप्ति ही हमारा उद्देश्य (*motive* अथवा *end*) हो जाता है इस वस्तु की जो भावना हमारे हृदय में होती है जिसके कारण इस वस्तु की इच्छा हमारे अन्दर जागती है और जिसकी पूर्ति के लिये हम प्रयत्नशील हो जाते हैं यह हमारा (motive) कहा जाता है। Motive का अर्थ होता है ("that which moves or induces one to act") जो कर्म की ओर बढ़ाये अथवा प्रेरित करे।

(ग) इच्छा (Desire) अभाव की संज्ञा और इस अभाव को दूर करनेवाली वस्तु का ज्ञान-ये दोनों मिलकर एक इच्छा को जन्म देते हैं। इच्छा हमारी वह मानसिक स्थिति है जिसमें हम इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये एक अजीब प्रकार की चाहना, तृष्णा अथवा भूख का अनुभव करते हैं। ("A peculiar state of craving, longing or yearning for the attainment of the object or end")। Desire साधारणतः motive के पश्चात होता है। अतः इन दोनों में अन्तर करना आवश्यक है।

(घ) प्रयोजन अथवा इच्छाओं का द्वन्द (Conflict of motives or desries) शायद ही हमारी कोई इच्छा एकाकी और असम्बद्ध होती है। सामान्यरूप से होता यह है कि एक ही समय अनेक प्रकार की इच्छायें हमारे अन्दर जाग उठती हैं इनमें से किसी एक की पूर्ति के लिये इच्छाओं का आपस में होड़ लग जाता है। इसका कारण यह होता है कि हम एक ही समय सभी इच्छाओं की पूर्त्ति नहीं कर सकते। ऐसा हमारे लिये सम्भव ही नहीं है। अक्सर तो ऐसा होता है कि हमारी दो इच्छायें परस्पर-विरोधी होती हैं और उनमें से किसी एक की ही प्राप्ति एक समय में हो सकती है। ऐसे समय हमारे अन्दर दो सर्वथा विरोधी वस्तुओं की इच्छा होती है और इनकी प्राप्ति के विभिन्न साधन होते हैं। अब प्रश्न उठता है कि इन विभिन्न रास्तों में से किसे अपनाया जाय और किसका बहिष्कार किया जाय? इसी संघर्ष के बाद से नैतिक निर्णय का क्षेत्र प्रारम्भ होता है।

(ङ) विचारणा (Deliberation) इस संघर्ष के प्रारम्भ होते ही असल कार्य कुछ देर के लिये स्थगित हो जाता है और इस बीच व्यक्ति मन ही मन विभिन्न रास्तों के विषय में विचार-विमर्श करता है। वह अपने विवेक और अनुभव के आधार पर इन सब इच्छाओं के गुण-दोषों का विवेचन करता है। यह एक मानसिक क्रिया जिसके फलस्वरूप मनुष्य इच्छाओं के द्वन्द को समाप्त करना चाहता है।

(च) निर्णय अथवा चुनाव (Decision or choice)—उपरोक्त आलोचना—प्रत्यालोचना के फलस्वरूप हम किसी निश्चय पर पहुँचते हैं। हम

विरोधी प्रेरणाओं में से किसी एक को चुनलेते हैं और दूसरों को वहिष्कृत कर डालते हैं। इस चयनात्मक क्रिया को चुनाव अथवा निर्णय कहते हैं। निर्णय करनेवाला व्यक्ति अब इस निर्णीत वस्तु और उसकी प्राप्ति के साधन के साथ अपने को एकीकृत कर डालता है। उसे जो वस्तु अथवा साधन सर्वोत्तम दिखाई पड़ता है उसी के लिये वह सतत प्रयत्नशील हो जाता है।

इसी को हम मनुष्य का निर्णय (Decision) अथवा intention कहते हैं। यहाँ हम एक विशिष्ट वस्तु की इच्छा ही नहीं करते वरन एक विशेष साधन के प्रयोग करने का भी निश्चय कर डालते हैं। इस प्रकार मनुष्य के निर्णय अथवा *Intention* में वस्तु की इच्छा, उसकी प्राप्ति का साधन, तथा इस इच्छा की पूर्त्ति के साथ-साथ निश्चित रूप से होनेवाले अन्य सहकारी कार्यों अथवा फल (Concomitants और consequences) भी शामिल रहते हैं। ऐसा होता है कि हम जब किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कोई साधन अपनाते हैं तो उद्देश्य की पूर्त्ति के अतिरिक्त भी कई छोटे-मोटे कार्य सहजरूप से हो जाते हैं, जिनकी अभिलाषा चाहे हमें न रही हो, पर उनका ज्ञान हमें आवश्य था। इन्हें ही हम Concomitants अथवा consequences कहते हैं और *Intention* के अन्दर ये भी शामिल रहते हैं।

[यह Intention और Desire तथा Motive जिनकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं नैतिक निर्णयों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण हैं। अतः इनका अन्तर स्मरण रखना चाहिये।]

(२) शारीरिक स्थिति अभीतक ऐच्छिक कार्यों के सिलसिले में जो कुछ हमने देखा है वह मानसिक क्रियायें या प्रक्रियायें (Processes) हैं। इसके पश्चात् हमारा निर्णय शारीरिक क्रिया में परिवर्त्तित हो जाता है। हमारा निर्णय अथवा संकल्प, जब निश्चित रूप से चेतना में समाजाता है तब सहज रूप से हमारे शरीर में एक गति पैदा हो जाती है जो इच्छित वस्तु की ओर उन्मुख होती है। इसके चलते हमारा शरीर चालित हो जाता है।

(३) वाह्य परिणाम इस शारीरिक गति के कारण वाह्य जगत में परिवर्त्तन होने लगते हैं जो हमारा अभीष्ट था। इसके चलते कुछ प्रत्याशित और

कुछ अप्रत्याशित परिणाम होते हैं जिनसे हमारे उद्देश्य की सिद्धि अथवा असिद्धि होती है।

Q. 7 What is the proper object of moral judgement? Give a reasoned answer.

हम जानते हैं कि नैतिक निर्णय सदा ही ऐच्छिक कर्मों (Voluntary actions) पर दिया जाता है। वे कर्म जो एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिये सोच समझकर किये जाते हैं उन्हीं के विषय में हम उचित-अनुचित का प्रश्न उठाते हैं। इस प्रकार सारे अनैच्छिक कर्म (non-Volnntary actions) नीतिशास्त्र के क्षेत्र के बाहर पड़ते हैं। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि अभ्यासजन्य कर्म (Habitual actions) यद्यपि अनैच्छिक होते हैं तथापि उन पर नैतिक निर्णय दिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि ऐसे कर्म यद्यपि बाद में सहज रूप से होते हैं, पर इनकी शुरूआत जानबूझकर की जाती है।

लेकिन इतने ही से हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं मिल जाता। हमें मालूम है कि ऐच्छिक कर्मों की भी कितनी स्थितियाँ या अवस्थायें होती हैं। इसके आन्तरिक और बाह्य कितने ही पहलू होते हैं। इसका प्रारम्भ तो कुछ मानसिक प्रक्रियाओं से होता है, पर इसकी परिणति होती है किसी बाह्य कर्म अथवा आचरण में जिसे हम फल अथवा Consequence कहते हैं। अब प्रश्न उठता है कि नैतिक निर्णय हम इनमें से किस स्थिति अथवा पहलू पर देते हैं? क्या नैतिक गुण इसके मानसिक कारणों में होता है अथवा बाह्य परिणामों में? इसकी हमें विशद् विवेचना करनी है।

(क) विचार कर देखने पर इसमें जरा भी सन्देह नहीं रह जाता कि बाह्य परिणाम अथवा कर्म पर हम नैतिक निर्णय नहीं दे सकते। ऐसा करना तभी सम्भव होता यदि कार्यों के परिणाम (Consequence) सदा ही व्यक्ति के उद्देश्य अथवा motive के अनुसार होते। पर हम पाते हैं कि बात ऐसी है नहीं। अक्सर हम ऐसा देखते हैं कि मनुष्य करना कुछ चाहता है और

हो जाता है कुछ और ही। इसी कारण से हम कहते हैं कि "Man Proposes and God disposes"। होता यह है कि कोई व्यक्ति एक सद्कार्य करना चाहता है पर परिस्थितियों के हेर-फेर से उसका परिणाम बहुत ही बुरा हो जाता है। उसी प्रकार एक दुष्कर्मी व्यक्ति के हाथों भी कभी-कभी आकस्मिक रूप से कोई शुभ कर्म सम्पन्न हो जाता है।

उदाहरणों के द्वारा यह बात और भी स्पष्ट की जा सकती है। कोई डाक्टर किसी रोगी की चिकित्सा के सिलसिले में उसकी चीरफाड़ (operation) शुरू करता है। यहाँ उसका उद्देश्य है रोगी का रोग दूर करना, पर कुसंयोग से इस चीरफाड़ में रोगी की मृत्यु हो जाती है और इस प्रकार परिणाम बहुत बुरा होता है। उसी प्रकार कोई शिकारी देखता है कि उसका दोस्त एक बाघ के चंगुल में फँस गया है और उसका बाघ से भिड़न्त हो रहा है। इस परिस्थिति में वह व्यक्ति अपने मित्र की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझता है। वह दौड़कर नजदीक जाता है और अपनी कटार निकालकर पीछे से बाघ पर वार करता है, लेकिन इसी बीच स्थिति बदल जाती है और बाघ जो ऊपर था, धक्का खाकर नीचे चला जाता है। नतीजा यह होता है कि कटार बाघ के बजाय उसके मित्र को लग जाती है और उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ उद्देश्य तो काफी अच्छा है पर परिणाम खराब। इसके विपरीत यदि कोई कंजूस व्यक्ति किसी भिखारी पर खीझकर उसे मारने के लिये हड़बड़ में एक रुपया फेंक डालता है, और वह रुपया संयोगवश भिखारी के भिक्षा-पात्र में गिर पड़ता है, तो यहाँ उद्देश्य बुरा रहने पर भी फल काफी अच्छा हो जाता है क्योंकि उससे उसे खाना मिल जाता है। कहानी है कि एक राजा ने एक लड़के से रंज होकर उसे विष दे देने के लिये अपनी स्त्री को एक पत्र लिखकर उसी लड़के के मार्फत भेजा। आगे चलकर लड़का थककर सो गया और इसी बीच एक व्यक्ति ने उसके हाथ से चिट्ठी लेकर पढ़ी। उसे दया आ गई और उसने 'विष' को विषया' बना दिया। अब विषया उस राजा की लड़की का नाम था। रानी ने राजा का आदेश समझकर उस लड़के की शादी अपनी लड़की से कर दी। यहाँ भी उद्देश्य बुरा है पर फल अच्छा।

ऐसी परिस्थितियों में वाह्य परिणाम को देखकर नैतिक निर्णय देना न्याय-संगत नहीं। ऐसा करने से तो अक्सर शुभ कर्मियों को दण्ड और दुष्कर्मियों को पुरस्कार मिलने की संभावना रहेगी।

(ख) इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि नैतिक गुण किसी ऐच्छिक क्रिया के वाह्य परिणाम में नहीं वल्कि उसके मानसिक कारणों-उद्देश्य आदि में होता है। किसी आचरण को उचित अथवा अनुचित कहने के लिये यह देखना आवश्यक है कि उसकी प्रेरक शक्ति क्या है। जब तक मानसिक प्रक्रियायें न हो, तवतक कोई कार्य हो ही नहीं सकता। अत कर्मो का महत्त्वपूर्ण अग है उसके मानसिक कारण अथवा प्रेरणायें। किसी कार्य की पवित्रता इस बात पर निर्भर करती है कि वह पवित्र उद्देश्य से किया गया है अथवा नहीं, यदि ऐसा न हो तो स्वेच्छा से सर्वस्व दान करनेवाले त्यागी और विवश होकर दान देनेवाले कंजूस में कोई भेद ही नहीं रह जायगा। इसीलिये Prof. Green का कथन है कि "It is not by the outward form that we know what moral action is We know it, so to speak, on the inner side"

किंतु यहाँ हमें फिर एक दिक्कत का सामना करना पडता है। क्या हम किसी कार्य के उद्देश्य (motive) मात्र पर नैतिक निर्णय दे सकते हैं? हम जानते हैं कि इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये किसी प्रकार का आचरण किया जाता है। अत. ऐसा सोचना स्वाभाविक है और वहुत से लोग ऐसा सोचते भी हैं कि उद्देश्य ही सब कुछ है और उसी में नैतिक गुण दोष रहता है। पर ऐसी धारणा गलत है।

ऐसा सम्भव है और अक्सर ऐसा होता भी है--कि हम एक महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिये एक अत्यन्त तुच्छ और निन्दनीय साधन को अपना लेते हैं। हमारे उद्देश्य एकदम पवित्र हो सकते हैं, पर उनके साधन अत्यन्त गन्दे। प्रत्येक परीक्षार्थी का उद्देश्य रहता है परीक्षा पास करना। इसके लिये कोई घोर परिश्रम करता है और दूसरा गन्दे तरीकों चोरी-चपाटी से पास करना चाहता है। यहा उद्देश्य एक रहने पर भी एक का कार्य उचित और पवित्र है पर दूसरे का गन्दा, अपवित्र और अनैतिक।

इसी प्रकार एक इमानदार व्यापारी और एक चोर दोनों का उद्देश्य है धन की प्राप्ति, किन्तु दोनों के साधनों में अन्तर रहने के कारण हम दोनों आचरणों को एक नहीं मानते। यहाँ पहला आचरण नीति संगत है किन्तु दूसरा अनैतिक और अनुचित।

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी आचरण के पवित्र अथवा अनैतिक होने के लिये केवल उसके उद्देश्य का ही पवित्र होना आवश्यक नहीं यह भी जरूरी है कि उस उद्देश्य की प्राप्ति के साधन भी अच्छे और शुद्ध हों।

वास्तव में, ऐसा नहीं करने का अर्थ होता है यह मान लेना कि उद्देश्य की शुद्धता से ही साधन भी शुद्ध हो जाते हैं

"*The end Justifies the means*". लेकिन ऐसा मानने से अनर्थ हो जाने की सम्भावना है। इस आधार पर तो घृणित से घृणित आचरण भी उद्देश्य की दुहाई देकर उचित कहा जा सकता है। कतिपय अनाचार के विषय में यह प्रमाणित किया जा सकता है कि उसका उद्देश्य पवित्र था। लेकिन केवल इसी कारण से हम इन कर्मों को क्षम्य नही समझ सकते। एक डकैत अपने परिवार के भरन-पोषण के लिये ही डाका डालता है, एक खूनी अपने परिवार के कल्याण के लिये हो अपने किसी दुश्मन का खून कर सकता है अथवा कोई धोखेबाज अपने मित्र के हितार्थ किसी दूसरे व्यक्ति को धोखा दे सकता है। इन सभी आचरणों मे उद्देश्य तो अच्छा ही है पर तब भी ऐसे व्यक्तियों को समाज और सरकार दंड देती है।

असल बात तो यह है कि उद्देश्य और साधन दोनों ही जब तक पवित्र न रहें कोई काम पवित्र हो ही नहीं सकता। दोनों में से कोई खराब रहे तो पूरा कर्म ही खराब अथवा अनुचित कहा जा सकता है।

अत. हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि किसी कार्य पर नैतिक निर्णय देने के लिये केवल उसका उद्देश्य (motive) ही देखना आवश्यक नहीं है वरन् पूरा संकल्प (Volition अथवा Intention)।

(ग) हम जानते हैं कि Intention में उद्देश्य अथवा प्रयोजन के अतिरिक्त साधन और फल भी शामिल होते हैं। हमारे कर्मों के प्रत्याशित फल,

उसकी कार्यविधि और प्रयोजन सभी को मिलाकर हम Intention अथवा संकल्प की संज्ञा देते हैं। यही *Intention* हमारे नैतिक निर्णयों का खास विषय होता है।

किन्तु प्रश्न उठ सकता है कि यह Intention मन के भीतर की चीज है। हम अपने आचरण के विषय में तो निश्चित रूप से जान सकते हैं कि हमारा Intention ऐसा था, किन्तु दूसरों के विषय में इसका पता कैसे लगाया जाय? अब यहाँ हम वस्तुस्थिति को देखकर तथा अन्य बातों से व्यक्ति के Intention का अनुमान करते हैं और तब उस पर नैतिक निर्णय देते हैं। इस प्रकार चाहे हमारा अपना आचरण हो अथवा किसी दूसरे का, लेकिन सदा ही नैतिक निर्णय का विषय Intention होता है।

अब इससे एक और बात हम निकाल सकते हैं। Intention का एक आवश्यक अंग है सोच विचार और निर्णय। और यह एक ऐसी वस्तु है जिसमें किसी व्यक्ति का चरित्र अभिव्यक्त होता है कोई व्यक्ति क्या सोचता है और किस परिस्थिति में कैसा निर्णय करता है यह उसके चरित्र का परिचायक है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि Intention के माध्यम से हम व्यक्ति के चरित्र पर ही नैतिक निर्णय देते हैं। इसलिये वास्तव मे हमारे नैतिक निर्णयों का विषय व्यक्ति स्वयं अथवा उसका चरित्र होता है। Prof Mackenzie का कहना है कि

The moral judgemeet is not properly passed upon a *thing done*, but upon a person doing."

Q 8. What, according to Indian Ethics, is the psychological basis of actions? Give a reasonable analysis with reference' to the concepts of Raga, Dvesa and Pravritti

भारतीय मत के अनुसार हमारे सारे कर्म निर्विवाद रूप से मानसिक कारणों के चलते होते हैं। यदि किसी समय में मन के कुछ विकार अथवा तृष्णायें

समाप्त हो जायँ तो सारे सांसारिक कार्यों का नाश हो जाय और मनुष्य मुक्ति की प्राप्ति कर ले। किन्तु ऐसा होता कम है। जन-साधारण के साथ तो सत्य यही है कि तृष्णाओं अथवा इच्छाओं का अन्त नहीं होता और इसी कारण लोग जीवन भर इन की तृप्ति के पीछे लगे रह जाते हैं, और इसीके फलस्वरूप जन्म-मरण के बन्धन मे पड़े रहते हैं। इन मानसिक प्रक्रियाओं को, जो हमें कार्य की ओर प्रेरित करते हैं हम प्रवृत्ति (Volition अथवा Inclination) कहते हैं।

वास्तव मे प्रवृत्तियों के भी अन्य कारण हैं। इन कारणों को हम राग और द्वेष के नाम से पुकारते हैं। हमारी सारी क्रियायें राग और द्वेष से ही चलते होती हैं, ये हमारे कर्मों के श्रोत हैं। राग का अर्थ होता है सुख-प्राप्ति की भावना से उत्पन्न वस्तुओं का मोह अथवा प्रेम। और द्वेष का अर्थ होता है कष्ट-निवारण की भावना-जनित वस्तुओं की घृणा।

हम इस जीवन में अनेक वस्तुओं के संसर्ग में आते हैं और उनका भोग करते हैं। इनमें से कुछ वस्तुओं से हमें सुख की प्राप्ति होती है और कुछ दूसरों के चलते कष्ट का अनुभव होता है। अब जिन वस्तुओं से हमें सुख अथवा आनन्द प्राप्त होता है उनकी कामना हमारे हृदय में स्थायी हो जाती है। हम बराबर ही ऐसे वस्तुओं को प्राप्त करना चाहते हैं और एक प्रकार से हम इन वस्तुओं से चिपक जाते हैं और हमेशा इनके सान्निध्य मे रहना चाहते हैं। इनके अभाव में हमें कष्ट का अनुभव होता है और इसीलिये हम जैसे तैसे इनको अपनाना चाहते हैं। वस्तुओं के लिये जो हमारा यह मोह अथवा आकर्षण (Love अथवा attraction) होता है उसे ही हम राग की संज्ञा देते हैं।

उसी प्रकार जिन वस्तुओं से हमें कष्ट होता है उनकी संगति से हम भागना चाहते हैं। हम नहीं चाहते कि किसी प्रकार ये वस्तुएं हमारे पास आयें। इनसे अलग रहने की इच्छा स्थायी रूप से हमारे अन्दर जाग्रत होती है। इनसे एक प्रकार की दुश्मनी अथवा घृणा हमें हो जाती है। इसी घृणा अथवा विकर्षण की भावना (Hate अथवा aversion) को हम द्वेष कहते हैं।

यही दो भावनायें—राग और द्वेष-हमारे सारे कर्मो का उद्गम स्थल होती है। सुखद वस्तुओं अथवा अनुभवों की प्राप्ति और दुखद वस्तुओं से अलग

रहना इन्हीं के चलते हमरी सारी क्रियायें होती हैं। हमारा शुभ-अशुभ, कल्याण-अकल्याण इन्हीं पर निर्भर करता है।

भारतीय विचारकों के अनुसार रागों भी कई कोटियों अथवा प्रकार हैं। काम, तृष्णा, लोभ, स्पृहा, अभिलाषा, सकल्प आदि राग के विभिन्न रूप है। इनमें किसी न किसी प्रकार की वासना अथवा काम का अस्तित्व होता है।

उसी प्रकार द्वेष के भी कई प्रकार हैं। क्रोध, द्रोह, अक्षमा, अमर्ष आदि द्वेष के अन्दर माने जाते हैं। ये विषय और विषयी के वीच वैमनस्य के सूचक हैं। इनके लिये तीन वस्तुओं का होना आवश्यक है :—

(१) आत्मा-मन संयोग (Soul-mind contact)
(२) दुखका अनुभव (Experience of pain)
(३) पूर्व में भोगे दुख का स्मरण और भविष्य में उनके होने की आशंका (Memory of past pains and apprehension of future pain).

इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन में क्रियाओं के दो श्रोत हैं। सुकरात के अनुसार शुभ की भावना एकमात्र कारण है। वे मानते हैं कि अशुभ अथवा कष्ट की भावना तो शुभ का ही एक विशेष रूप (Privation) है। पर भारतीय लोग मानते हैं कि राग और द्वेष-सुख और दुख-दोनों ही कार्यों के श्रोत हैं।

भारतीय दर्शन की जितनी भी शाखायें (Schools) हैं वे इन दोनों को बन्धन का कारण मानती हैं। सासारिक सुख-दुख में फँसनेवाले येही हैं और इन्हीं के चलते मनुष्य अपने प्रधान उद्देश्य-मोक्ष-को भूलकर यह समझने लगता है कि सासारिक भोग-विलास ही सब कुछ है। अत भारतीय दार्शनिकों ने सदा ही इनके नाश का उपदेश दिया है। यदि मनुष्य भव-बन्धन से मुक्ति चाहता है तो आवश्यक है कि वह इनसे अपना पिंड छुड़ाये। सासारिक वासना अथवा तृष्णा का क्षय करके ही कोई अपने प्रधान आदर्श की प्राप्ति कर सकता है। इसी कारण गीता में कहा गया है

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसाद-मधिगच्छति ॥

इनसे मुक्ति पाने के लिये संयम और अभ्यास की आवश्यकता है। ये ऐसे स्वभाव के हैं कि मनुष्य से एक बार चिपक जाने पर उन्हें जल्दी छुटने नहीं देते। इसी कारण जैनियों ने इन्हें 'कषाय' की संज्ञा दी है। इनसे छूटने का उपाय है संयम और नियन्त्रण का अभ्यास।

इसमें एक शंका उठ सकती है कि द्वेष कैसे सासारिकता का बन्धन हो सकता है। राग के चलते तो ऐसा हो सकता है क्योंकि उसमें वस्तुओं के लिये मोह होता है पर द्वेष में तो हम वस्तुओं से अलग रहना चाहते हैं। फिर इससे बन्धन किस प्रकार हो सकता है? किसी वस्तु से घृणा होने पर तो हम उससे बंधते नहीं बल्कि दूर भागते है।

इसका उत्तर यह है कि द्वेष जनित जो विरक्ति होती है वह सापेक्ष (relative) होती है। कुछ वस्तुओं से हमें विरक्ति अवश्य होती है, पर यह विरक्ति निरपेक्ष और स्थायी नहीं होती। स्वभावतः हम एक वस्तु से घृणा करके दूसरी वस्तु से संलिप्त हो जाते हैं। इसमें स्थायी रूप से विरक्ति की मनोदशा का निर्माण नहीं होता जो मोक्ष के लिये आवश्यक है। मोक्ष तो तभी प्राप्त हो सकता है जब सासारिक वस्तुओं से हमें कोई सम्बन्ध ही न रहे। इनकी प्राप्ति अथवा अप्राप्ति से हर्ष-विषाद न हो। यह साधारण प्रकार का द्वेष तो राग और मोह ही के समान एक ज्वाला है जिसकी लपटों में पड़कर हम धीरे-धीरे विनाश के गर्त में जाते हैं।

भारतीय दर्शन मे भी क्रियाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होता है और ऐच्छिक तथा अनैच्छिक क्रियाओं में भेद बनाया जाता है।। ऐच्छिक क्रियायें ही आचार-शास्त्र का विषय हैं। मन के झुकाव अथवा मनोदशा (Inclination or tendency) को वृत्ति अथवा प्रवृति की संज्ञा दी जाती है। और इन्हीं प्रवृतियों के कारण सारी ऐच्छिक क्रियायें सम्पन्न होती है।

मीमासा दर्शन के विचारक प्रभाकर के अनुसार प्रवृति का विश्लेषण इस प्रकार किया जाता है। सर्वप्रथम हमारे मन में किसी क्रिया की चेतना होती है,

जिसे कार्यताज्ञान कहते हैं। उसके बाद उसके लिये इच्छा की उत्पत्ति होती है जिसे चिकीर्षा कहते हैं। चिकीर्षा के अन्दर यह भावना भी निहित होती है कि यह काम किया जा सकता है। इसके प्रश्चात प्रवृति, कृति अथवा संकल्प का स्थान आता है जिसे हम Volition अथवा Intention कह सकते हैं। बाद मे फिर चेष्टा का स्थान आता है जो शारीरिक क्रिया है और इसके फलस्वरूप कार्य की परिणति होती है।

कार्यताज्ञान में सिर्फ वस्तु के अभाव अथवा क्रिया की संज्ञा ही नहीं रहती वल्कि यह भाव भी रहता है कि उसकार्य को अवश्य करना चाहिये और उसे किया भी जा सकता है। यदि ऐसा न हो तो कार्य सम्पन्न नहीं होगा, क्योंकि चेतना-मात्र से तो कार्य हो नहीं सकता। कार्य तव होता है जव विषयी अपने को उस अप्राप्त वस्तु से एकीभूत कर लेता है।

चिकीर्षा किसी कार्य की इच्छा को कहते हैं। प्रभाकर के अनुसार इसमें केवल दो धारणायें रहती हैं। एक तो यह कि विषयी (Subject) को यह कार्य करना ही है और दूसरे, कि उसके संकल्प के द्वारा यह कार्य हो सकता है। इनके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि विषयी को यह ज्ञान भी हो कि यह कार्य उसके हित का साधक है। लेकिन नैयायिकों के अनुसार यह आवश्यक है कि विषयी को इस कार्य की उपयोगिता का भी ज्ञान इस्टसाधनता ज्ञान हो। इस प्रकार नैयायिकों के अनुसार चिकीर्षा के अन्दर तीन वातें आती हैं (क) कृतिसाध्यता ज्ञान, (ख) इष्टसाधनता ज्ञान और (ग) और यह भावना कि उस क्रिया से अधिक दुख से छुटकारा मिल सकता है। वास्तव में यही मत अधिक मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है।

किन्तु इस अन्दर के होते हुए भी सभी भारतीय विचारक इस वात से सहमत हैं कि प्रवृति के लिये तीन वातों का होना आवश्यक है। इनके विना किसी प्रवृति की रचना नहीं हो सकती। ये तीन हैं

(१) कार्यताज्ञान, (Motive)

(२) चिकीर्षा, (Desire)

और (३) कृति, (Volition)

Q. 9. Critically examine the view which regards external law as the standard of moral judgement.

नीतिविज्ञान की सबसे बड़ी समस्या है नैतिक आदर्श की स्थापना करना। हमने देखा है कि हमें जब किसी आचरण के विषय में उचित-अनुचित का निर्णय करना होता है, तो हमें एक मापदण्ड (Standard) की जरूरत होती है। इसलिये यह प्रश्न उठता है कि यह आदर्श क्या है? अब इसके अनेक उत्तर दिये जाते हैं। किसी के विचार से यह आदर्श है सुख की प्राप्ति, किसी दूसरे के मत से पूर्णता (Perfection) इत्यादि। इन विभिन्न उत्तरों में से एक यह भी है कि हमारा मापदण्ड होना चाहिये बाह्य नियम (External law)

हम जानते हैं कि उचित-अनुचित के विवेचन में एक नियम (Law) की भावना निहित होती है। इसी नियम से तुलना करके हम किसी आचरण को उचित और किसी को अनुचित बताते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार यह नियम बाह्य (External) होना चाहिये। किसी श्रेष्ठ व्यक्ति अथवा संस्था या किसी दूसरे शक्ति के द्वारा स्थापित नियम ही हमारे आचरण का आदर्श होना चाहिये। यह नियम निरपेक्ष और स्थायी महत्त्व का होता है और किसी भी परिस्थिति में हमें इस नियम का पालन करना चाहिये। इसीमें हमारी नैतिकता निहित है। इन नियमों के न पालन करने से हम दण्ड के भागी होते हैं और अनैतिक कहे जाते हैं।

इस मत के अनुसार किसी कार्य का शुभ अथवा अशुभ होना, अच्छा या बुरा होना इसी पर निर्भर करता है कि वह किसी नियम के अनुकूल हो। अतः जब हम नैतिक निर्णय देते हैं, तो और कुछ नहीं, केवल इतना देखते हैं कि अमुक कार्य नियम के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल। इस प्रकार अच्छाई या बुराई स्वयं किसी कार्य में नहीं है। अच्छाई अथवा बुराई किसी बाह्य शक्ति के द्वारा किसी कार्य में आरोपित की जाती है।

लेकिन फिर प्रश्न उठता है कि वह कौन सी शक्ति है जिसके द्वारा नियमों की स्थापना होती है? इसके भी विभिन्न उत्तर हैं। कुछ लोगों का विश्वास है कि इस नियम की स्थापना ईश्वर के हाथ हैं, दूसरे लोगों के अनुसार राज्य अथवा

सरकार के द्वारा और फिर अन्य कुछ लोगों के अनुसार समाज अथवा जाति (Tribe) के द्वारा। अतः सोचने की वात रह जाती है कि दैवी (Divine) राजकीय या सरकारी (Political), और सामाजिक (Social) इन नियमों से किसे नैतिकता का सच्चा मापदण्ड माना जाय। इन विभिन्न नियमों की व्याख्या हम वाद में करेंगे। तत्काल हम यह विवेचन कर सकते हैं कि क्या सचमुच वाह्य नियम (External law) को नैतिकता का आदर्श माना जा सकता है ?

थोड़ासा विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में वाह्य नियम को मापदण्ड मान लेने में कई आपत्तियाँ हैं। संक्षेप में हम इन दिक्कतों की चर्चा इस प्रकार कर सकते हैं।

(१) हम जानते हैं कि वाहरी दवाव अथवा भय से किया गया आचरण नैतिक-गुण सम्पन्न नहीं होता है। जबतक हम अपनी स्वेच्छा से अपना भला बुरा सोचकर कोई कार्य नहीं करते तवतक हमारा कार्य नैतिकता की सीमा में नहीं आता। यदि दण्ड के भय से अथवा पुरस्कार पाने के लोभ में हम कार्य करते हैं तो हमें नैतिक कहलाने का कोई अधिकार नहीं। नैतिक आचरण वही हो सकता है जो आन्तरिक और सहज प्रेरणा के चलते किया गया हो। अतः जब हम वाह्य नियम के कारण, दण्ड से वचने के लिये कोई काम करते हैं तो इसमें हमारी नैतिकता नहीं वल्कि चतुराई (Prudence) की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार नियम को मापदण्ड मानने से धर्म (Virtue) और चतुराई (Prudence) में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

(२) जब ये नियम वाह्य शक्तियों के द्वारा निर्धारित होते है तो वे यदा कदा उसी शक्ति के द्वारा वदले भी जा सकते हैं। इस प्रकार नैतिकता का मापदण्ड स्थायी न रहकर क्षणिक और मनचाहा (Arbitrary) हो जायगा। लेकिन वात सचमुच ऐसी नहीं। नैतिकता तो आत्मा की वस्तु है और विवेक के द्वारा निर्धारित होती है। अतः इसका आदर्श ऐसा होना चाहिये जिसे हृदय समझ सके और उसे आत्मसात कर सके, जिसे मनुष्य स्वेच्छा से, जानबूझकर अपना आदर्श वनाना चाहे।

(३) तीसरी बात है कि यह नियम स्वयं उद्देश्य (end) नहीं हो सकता, वह तो हमेशा ही किसी दूसरे आदर्श का साधन (means) होता है। नियमों की रचना बराबर ही किसी दूसरे उद्देश्य की प्राप्ति के लिये की जाती है। दूसरी बात, हम नियमों को भी उचित अथवा अनुचित, अच्छा या बुरा कहते हैं। इसका स्पष्ट रूप से यह अर्थ होता है कि कोई इससे भी उच्च आदर्श है जिससे तुलना कर हम इन नियमों को अच्छा-बुरा कहते हैं। इस प्रकार बाह्य नियम नैतिक निर्णयों के मापदण्ड नहीं हो सकते।

लेकिन यदि इनके बावजूद यह मान भी लिया जाय कि नियमों से मापदण्ड का काम हो सकता है, तो प्रश्न उठेगा कि कौन सा नियम। अत. हमे विभिन्न प्रकार नियमों का विवेचन करके देखना है कि वे नैतिकता का मापदण्ड हो सकते हैं अथवा नहीं।

(१) ईश्वरीय अथवा दैवी नियम (Divine law) बहुत से लोगों का मत है कि हमारी नैतिकता ईश्वर के द्वारा निर्धारित है। यह भावना भी हमारे अन्दर ईश्वर के द्वारा ही भरी गई है। अतः उचित-अनुचित का निर्णायक ईश्वर का आदेश (Command) है जो किसी न किसी प्रकार हम तक पहुँच जाता है। कोई कार्य उचित या अनुचित इसीलिये होता है कि ईश्वर ने उसे वैसा बना दिया है। अत. किसी कार्य की अच्छाई या बुराई ईश्वर की इच्छा पर निर्भर करती है। जो आज उचित समझा जाता है वही ईश्वर की इच्छा से कल अनुचित हो जा सकता है। जिसे हम शुभ समझते हैं वह कभी अशुभ की कोटि मे रखा जा सकता है। लॉक, डेकार्ट इत्यादि इस मत के समर्थक हैं। उनका कहना है कि कोई भी चीज ईश्वर से बाहर नहीं है। वह सर्वशक्तिमान है। अतः उचित और अनुचित का निश्चय करना भी उसी के हाथ है। यदि कोई व्यक्ति उचित अथवा अनुचित आचरण करता है तो उसे पुरष्कृत अथवा दंडित करना भी ईश्वर ही का काम है। वह सबसे बड़ी शक्ति है, अत. इन सब का अन्तिम निर्णय भी उसी के हाथ है। इसीलिये लाक का कहना है कि

"The true ground of morality can only be the will and Law of God who sees men in the dark, has

in His hands rewards and punishments and power enough to call to account the proudest officer."

लेकिन इस मत के माननेवाले यह भूल जाते हैं कि (१) ईश्वर का आदेश कोई ऐसी चीज नहीं है जो अपनी इच्छानुसार प्राप्त किया जा सके। हम जब चाहें तब ईश्वर का आदेश नहीं ले सकते। ईश्वर यदि सब का द्रष्टा हो भी तो अन्तिम निर्णय उसके हाथ मे हो सकता है, पर मनुष्य की साधारण जरूरतों में, दिनानुदिन की उसकी मुसीबतों अथवा द्वन्द्वों में तो ईश्वर सलाह नहीं दे सकता। यदि ऐसा हो भी तो कुछ खास योगी, सन्यासियों के लिये ऐसा सम्भव हो सकता है जन साधारण के लिये नहीं।

(२) फिर बहुत से मनुष्य तो ईश्वर को मानते भी नहीं। भला उनके लिये दैवी नियम नैतिकता का मापदण्ड कैसे हो सकता है? इस प्रकार ईश्वरीय नियम को नैतिकता का मापदण्ड मानना व्यवहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं।

(३) इसके अतिरिक्त जब हम ऐसा मानते है कि नैतिक नियम की रचना और विनाश ईश्वर के हाथ है तो हम ईश्वर को ही अनैतिक प्रमाणित कर डालते हैं। क्योंकि ईश्वर जब चाहे तब किसी वस्तु को नैतिक अथवा अनैतिक बना सकता है और इस तरह उसके लिये नैतिक-अनैतिक का भेद ही मिट जायगा। इसलिये हम यह नहीं कह सकते कि कोइ चीज उचित अथवा अनुचित इसलिये है कि ईश्वर ने वैसा करने अथवा न करने का आदेश दिया है, बल्कि हमें यह कहना चाहिये कि ईश्वर किसी काम को करने का आदेश इसलिये देते हैं कि वह उचित अथवा शुभ है।

इन सब कठिनाइयों के चलते ईश्वरीय नियम को नैतिकता का निर्णायक नहीं माना जा सकता।

राजनैतिक नियम (Political law) तो क्या राजनैतिक नियम उचित-अनुचित के निर्णायक हो सकते हैं? कुछ लोगों का विचार है कि राज्य अथवा सरकार के द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना ही नैतिकता है। हम जानते हैं कि प्रत्येक सरकार का अपना विधान होता है जिसके द्वारा किसी उद्देश्य की प्राप्ति होती है। इसी विधान को अपना आदर्श मानकर चलना चाहिये। जो

इन नियमों के अनुकूल हो वह उचित है और जो कार्य इनके विपरीत होता है वह अनुचित। इन अनुचित कार्यों के लिये अथवा राजकीय नियमों की अवहेलना करने के कारण हमें दण्ड भी मिलता है। अतः नैतिकता का स्वरूप इन्हीं नियमों के द्वारा निश्चित होना चाहिये।

(१) पर यह विचार भी भ्रान्ति मूलक है। हम जानते हैं कि कभी-कभी ये नियम स्वयं ही नैतिक निर्णय के विषय बन जाते हैं, क्योंकि हम इन्हे उचित अथवा अनुचित कहते हैं। अत ये साधन मात्र हैं, हमारे आदर्श (Ideal or end) नहीं हो सकते।

(२) दूसरे, ये नियम शासन-व्यवस्था के हेरफेर के साथ बदलते रहते हैं। इसलिये इन्हें अपना आदर्श मानने से नैतिकता की परिभाषा भी बदलती रहेगी। लेकिन यह बात किसी भी नैतिक व्यक्ति को अच्छी नहीं जँच सकती।

(३) फिर, ऐसा सम्भव नहीं कि हमारे आचरण के सभी पहलुओं के विषय में राजकीय नियमों की स्थापना हो। दिन प्रतिदिन हमारी जो आचरण सम्बन्धी समस्यायें होती हैं उन सब के लिये राज्य की ओर से नियमों का निर्माण नहीं हो सकता। वास्तव में राजकीय नियम तो हमारे सम्पूर्ण आचरण के एक छोटे से अंश के विषय में बनाये जाते हैं।

सामाजिक नियम (Social law) कुछ अन्य लोगों के विचार से सामाजिक नियम ही नैतिक निर्णयों के मापदण्ड हैं। पूरे समाज की इच्छा के अनुसार ही कोई कार्य उचित अथवा अनुचित हो सकता है। समाजिक कार्यों की सराहना करे वे उचित और जिनकी निन्दा वे करे अनुचित होते हैं। अत सामाजिक नियम ही सब कुछ हैं।

अब सवाल है कि इन नियमों का निर्माण कैसे होता है? समाज की खुशी-नाराजगी, उसकी प्रतिष्ठा और अप्रतिष्टा की भावनायें इन्हीं से ऐसे नियमों का विधान होता है। हम देखते हैं कि समाज की इच्छा के विरुद्ध, जो कार्य किये जाते हैं उन कार्यों के लिये लोगों को समाज द्वारा दंडित होना पडता। वे समाज द्वारा बहिष्कृत होते हैं और उन्हे एकाकी जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अतः

समाज के प्रत्येक सदस्य के लिये सामाजिक नियमों की इज्जत और रक्षा करना आवश्यक है। अतः नैतिक आदर्श समाज के द्वारा ही स्थापित होता है।

किन्तु हम जानते हैं कि सामाजिक नियम हमेशा परिवर्त्तनशील हैं। जो आज ठीक है, कल वही गलत हो जाता है। एक समाज में जिसे उचित समझा जाता है वही दूसरे समाज में निन्दा का विषय होता है। ऐसे नियम किसी स्थायी आदर्श का काम नहीं कर सकते।

इसके अतिरिक्त सामाजिक नियम और रीति-रिवाज अक्सर आलोचना के विषय बन जाते हैं। हम गलत प्रथाओं अथवा नियमों की निन्दा करते हैं और उन्हें बदलने का प्रयास करते हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि समाज के सामने भी कोई दूसरा ऊँचा आदर्श होता है और वही सही मापदण्ड हो सकता है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी प्रकार के बाह्य नियम को नैतिक निर्णय का मापदण्ड नहीं माना जा सकता।

Q. 10. State the different Intentional theories of Ethical Standard and give a critical estimate of the Moral sense Theory.

नीतिशास्त्र में कुछ ऐसे सिद्धान्तों का समावेश हुआ है जिनके अनुसार हमें नैतिक गुणों का ज्ञान सहज अथवा अपरोक्ष रूप से होता है। हम जब नैतिक निर्णय देते हैं तो उससे पहले ही किसी आचरण को देखकर हमें आप-से-आप ज्ञान हो जाता है कि इसके विषय में हमे कैसा निर्णय देना चाहिये। इस कोटि के सिद्धान्तों को Intuitional अथवा अपरोक्षज्ञानवादी सिद्धान्त कहा जाता है।

ऐसे सिद्धान्त तीन हैं। वे सब समान रूप से ही नैतिक निर्णय में अपरोक्ष ज्ञान के महत्व को स्वीकार करते हैं पर इसके बावजूद उनमें थोड़ा-बहुत अन्तर भी है। वे सिद्धान्त हैं. (१) रसेन्द्रियवाद अथवा सौन्दर्यवाद (The Aesthetic theory), (२) तर्कवाद (Dianoetic Theory), और (३) नैतिक इन्द्रियवाद (Moral Sense theory)। इन सब का अलग-अलग विवेचन हम आगे करेंगे।

(१) रसेन्द्रियवाद या सौन्दर्यवाद (The Aesthetic Theory)– इस मत के माननेवाले Shaftesbury, Hutcheson, Herbart, Ruskin इत्यादि हैं। शायद इनका सिद्धान्त इस विश्वास पर आधारित है कि सौन्दर्य, सत्य और शुभ-तीनों ही का उद्गम एक है और इसी कारण आपस में इनका सम्बन्ध पारिवारिक घनिष्ठता का है। इनका कहना है कि सौन्दर्य (Beauty) और शुभ (The Good) ये एक दूसरे से अलग नहीं है और इसी कारण एक की उपस्थिति से दूसरे की भी उपस्थिति जानी जा सकती है। किसी कार्य के सौन्दर्य अथवा रुचिकर रूप से हम उसके शुभ होने का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। जो सुन्दर अथवा रसपूर्ण है उसमें सत् अथवा शुभ का भी होना अपेक्षित है और इस प्रकार पहले से हम दूसरे की कल्पना कर सकते हैं। रसेन्द्रिय अथवा सौन्दर्य-बुद्धि से ही हमें नैतिक गुणों का ज्ञान होता है। हमें यदि सद्गुणी (Virutous) बनना है तो हमें अपने सौन्दर्य अथवा रसज्ञान को विकसित करना चाहिये। इस प्रकार हमारी सौन्दर्यग्राहिणी शक्ति (Aesthetic Capability) शक्ति ही सहज रूप से हमें नैतिक गुणों का ज्ञान कराती है।

इसी बात को ध्यान में रखकर Shaftesbury ने कहा है कि "What is beautiful is harmonious and proportionable, what is harmonious and proportionable is true, and what is at once both beautiful and true is, of consequence. agreeable and good,"

(२) तर्कवाद (Dianoetic theory) इस मत के माननेवाले है क्लार्क, कडवर्थ, वुलास्टन इत्यादि। इनके अनुसार विश्व में सभी वस्तुओं के अपरिवर्तनीय और निश्चित नियम हैं तथा सभी वस्तुएं एक दूसरे के साथ सम्बद्ध हैं। कोई भी वस्तु अन्य सभी वस्तुओं से विच्छिन्न नहीं है। इसी बात को ध्यान में रखने से नैतिक गुणों का ज्ञान होता है। हमारे अन्तः करण (conscience) में इस बात की चेतना है और इस प्रकार हम हर कार्य अथवा वस्तु का उचित स्थान और रूप सहज रूप से जानते । जब तक कोई वस्तु इस व्यवस्था के अन्तर्गत रहती है तब तक वह सत् और उचित है। इस व्यवस्था से बाहर होने

से ही हमें एक झटका होता है। और हम जान जाते हैं कि यह उचित नहीं है। जब तक कोई कार्य परिस्थिति और नियमों के अनुकूल है वह उचित है तथा इसके विपरीत होने से अनुचित। अब इस अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता का ज्ञान हमें सहज रूप से अन्तः करण के द्वारा प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार गणित की संख्याओं के सम्बन्ध (mathematical relations) निश्चित और अपरीवर्तनीय हैं उसी प्रकार मानवीय सम्बन्ध भी निश्चित हैं। इसी पर नैतिकता भी निर्भर है। इसीलिये क्लार्क का कहना है कि

"Morality depends on the fitness or unfitness of the relations in which we stand to each other and the rest of the universe"

उसी प्रकार कडवर्थ का मत है कि सत् और असत् (Good & Evil) एक दूसरे से निश्चित रूप में भिन्न हैं और इस विभिन्नता का ज्ञान हमारे अन्तःकरण में है। जिस प्रकार आकाश (space) अथवा संख्या (number) का ज्ञान हमें सहज रूप से होता है, ठीक वही बात नैतिक गुणों के विषय में भी लागू है।

(३) नैतिक इन्द्रियवाद (Moral Sense theory) इस सिद्धान्त के निर्माताओं का मत यह है कि हमारा अन्तःकरण (conscience) हमारे मन का एक ऐसा विशेष गुण (faculty) है जिसके द्वारा हमें नैतिक गुणों का ज्ञान सहज रूप से, बिना सोचे विचारे उसी प्रकार हो जाता है जैसे स्वाद अथवा गन्ध आदि का। यह हमारे आन्तरिक निरीक्षण (Perception) का एक अङ्ग है जो अविलम्ब किसी कार्य के नैतिक गुणों को समझ लेता है।

जिस प्रकार बाह्य वस्तुओं के भौतिक गुणों को परखने के लिये हमारे पास ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं, ठीक उसी प्रकार नैतिक गुणों को परखने के लिये भी एक आन्तरिक इन्द्रिय होती है (Internal sense organ) जिसे हम अन्तःकरण (Conscience) की संज्ञा देते हैं। जिस तरह हमें वस्तुओं के भौतिक

गुणों की संवेदना सहज रूप में हो जाती है ठीक उसी तरह कार्यों के उचित अनुचित होने की भी हमें संवेदना (Sensation) होती है। वस्तु-गुणों की भाँति ही नैतिक गुणों की भी संवेदना हमें होती है और इसी कारण हमें किसी आचरण को देखकर सुखद अथवा दुखद अनुभूत होता है। जिससे सुखद अनुभूति होती है (agreeable experience) उसे हम उचित समझते हैं और जब दुखद (disagreeable) अनुभूति होती है तो उस कार्य को हम अनुचित कहते हैं। इसीलिये कहा गया है कि

"On contemplating actions, we experience a feeling of an agreeable or disagreeable kind, and discerning the character or quality of these actions by means of the feeling which they awaken, we pronounce them to be good or bad."

इस प्रकार मार्टिन्यू के अनुसार हमारा अन्तःकरण तुरत हमें बता देता है कि दो संकल्पों में कौन सा श्रेयस्कर है और कौन सा हमें अपनाना चाहिये तथा किसका त्याग करना चाहिये। इसी सिद्धान्त को हम नैतिक इन्द्रियवाद (Moral sense theory) कहते हैं जो अपरोक्ष ज्ञानवादी सभी सिद्धान्तों में अधिक प्रचलित है।

अब यदि वास्तव में देखा जाय तो अपरोक्ष ज्ञान संबंधी जितने सिद्धान्त हैं वे सभी दोषपूर्ण हैं। वे हमें यह नहीं बताते कि हमारा आदर्श अथवा मापदण्ड क्या है बल्कि यह बताते हैं कि उनका ज्ञान हमें किस प्रकार होता है। समस्या तो असल यह है कि वह चरम आदर्श क्या है जिसका हम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं।

किन्तु अभी हमें नैतिक इन्द्रियवाद की खास रूप में समालोचना करनी है। अब हम देख सकते हैं कि अपनी जाति के सभी सिद्धान्तों के अवगुणों के अतिरिक्त भी इस सिद्धान्त की अपनी कुछ बातें है जो काफी आपत्तिजनक है। वे इस प्रकार है :

(i) हम मानते हैं कि जैसे स्वाद, गन्ध, आदि की इन्द्रियाँ होती हैं, उसी प्रकार नैतिक गुणों के लिये भी एक विशेष इन्द्रिय होती है। इसके कारण नैतिक

चेतना एक तरह से अनावश्यक और ऐच्छिक (optional) हो जाती है। किसी व्यक्ति को यदि आँखें न हो तब भी हम उसे मनुष्य की श्रेणी में रखते हैं। उसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति नैतिक चेतना रहित हो, तब भी उसे मनुष्य ही कहा कहा जायगा। यह आवश्यक नहीं कि हर व्यक्ति को नैतिक चेतना हो।

(ii) वस्तुओं के भौतिक गुण स्वयं क्या हैं इसे हम नहीं जानते। हम तो सिर्फ उनसे जो सम्वेदना होती है उसे ही जान सकते हैं। उसी प्रकार नैतिक गुणों को भी यदि संवेदना पर आधारित किया जाय तो उनका निजी रूप विस्तृत हो जायगा। वे भी स्वाद, गन्ध आदि की तरह प्रतीकात्मक (Symbolic) हो जायँगे।

(iii) यदि वास्तव में नैतिक इन्द्रिय नाम की कोई चीज होती तो हर मनुष्य के पास हर समय यह वर्तमान रहती लेकिन हम जानते हैं कि ऐसी बात है नहीं। नैतिक चेतना तो विकास का फल है। आज की हमारी नैतिक चेतना प्राचीन मनुष्यों की चेतना से भिन्न है। लेकिन नैतिक इन्द्रिय के होने से ऐसी सम्भावना नहीं होती।

(iv) इसके अतिरिक्त, हम पाते हैं कि नैतिक समस्याओं के सम्बन्ध मे काफी मतान्तर होता है। उचित-अनुचित के विषय में बहुत लोग एक धारणा पर ही सहमत नहीं होते। कोई किसी चीज को उचित और दूसरा अनुचित समझता है। यदि इन्द्रिय-विशेषवाली बात सत्य होती तो ऐसा सम्भव नहीं था। रंग की संवेदना प्रत्येक सामान्य (normal) मनुष्य को एक सी होती है। उसी प्रकार नैतिक गुणों की संवेदना भी एक होनी चाहिये थी, किन्तु ऐसा नहीं होता। अत: नैतिक ज्ञानेन्द्रिय की कल्पना यथार्थ नहीं।

(v) यदि इस बात को मान लिया जाय कि नैतिक गुणों की संवेदना एक विशेष इन्द्रिय के द्वारा होती है तो किसी भी व्यक्ति को दण्डित नहीं किया जा सकता। जो अनुचित करता है वह बखूबी यह कह सकता है कि उसे उचित की संवेदना ऐसी होती है।

दूसरे, ऐसा मानने से नैतिक निर्णयों की स्थापना में जो भूल होगी उसका निर्णायक कोई नहीं रह जायगा। बुद्धि के द्वारा ही इस की संज्ञा हो सकती है

और दूसरे व्यक्ति को इसका ज्ञान कराया जा सकता है। लेकिन वास्तव में हम जानते हैं कि ऐसी भूलें हम करते हैं और बाद में अपनी भूलों के लिये पछताते भी है। इनसे यह साबित होता है कि एक नैतिक इन्द्रिय की कल्पना में कोई अधिक बल नहीं।

Q. 11. What is Hedonism ? State the different Hedonistic theories and discuss Psychological Hedonism as a theory of Ethics.

सुखवाद (Hedonism) नैतिकता का पुराना सिद्धान्त है। प्राचीन समय में भी इसके माननेवालों की कमी नहीं थी और आज के वैज्ञानिक युग में तो सुखवाद का ही बोलबाला है। नैतिक सुखवाद दार्शनिक भौतिकवाद और धार्मिक नास्तिकवाद का सहगामी है। सुखवाद के समर्थकों के अनुसार सुख (pleasure) ही हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है। मनुष्य का जन्म होता है और किसी उद्देश्य से नहीं बल्कि सुख की प्राप्ति के लिये। अतः जिस प्रकार भी हो हमे सुख की खोज करनी चाहिये। हम देखते हैं कि स्वभावतः प्रत्येक व्यक्ति अपना सुख चाहता है। अतः युक्तिसंगत यही होगा कि हम लम्बी-चौड़ी बातें करना छोड़कर खुलकर अपने सुख के लिये प्रयास करें। कौन जानता है कि पंच भूत रचित यह शरीर कब मिट्टीमें मिल जाय ? इसलिये जब तक हम हैं तब तक सुख प्राप्ति की सामग्री ढूँढ़नी चाहिये। ईश्वर आदि की बात सब समाज का ढोंग है, अतः इनकी परवाह करना निरर्थक है। जिस किसी साधन से हमें अधिक से अधिक सुख प्राप्त हो सके, वही हमारा आदर्श होना चाहिये। जो कार्य सुख की प्राप्ति में सहायक हो वही उचित है, और जो बाधक हो वह अनुचित। इसके अतिरिक्त नैतिकता का और कोई मानदण्ड नहीं।

सुखवाद के जितने समर्थक हैं, वे सभी इस बात से सहमत हैं कि सुख ही हमारा लक्ष्य है, किन्तु और सब बातों में विचारकों में थोड़ा-बहुत मतभेद है इसी कारण सुखवाद के कई सिद्धान्त हमारे सामने आते हैं। मोटे तौर पर सुखवाद के दो सिद्धान्त हैं:

(१) मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism)
(२) नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism)

पुन. नैतिक सुखवाद के दो भेद किये गये हैं। जो सिद्धान्त अपने निजी सुख को आदर्श मानता है उसे स्वार्थी सुखवाद (Egoistic Hedonism) और जो सर्वों के सुख को आदर्श मानता है उसे परार्थी सुखवाद अथवा उपयोगिता (Altruistic Hedonism or utilitarianism) कहा जाता है। तत्काल हमें मनोवैज्ञानिक सुखवाद का विशद विवेचन करना है। अब प्रश्न उठता है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद है क्या ? जैसा कि नाम से ही मालूम पड़ता है यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित है। लोगों के दिन प्रति दिन के व्यवहारों का निरीक्षण करने से हमें एक तथ्य की प्राप्ति होती है। हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक अवस्था में सुख चाहता है। उसके जितने सारे कार्य होते हैं उन सब का उद्देश्य सुख अथवा किसी सुखद वस्तु को प्राप्त करना होता है। शायद ही कोई ऐसा मानवी आचरण हो जो सुख की भावना से प्रेरित न रही हो। हो सकता है कि बाहर से देखने से किसी कार्य का लक्ष्य कुछ दूसरा दिखाई पड़े किन्तु भीतर झाँकने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका भी आन्तरिक उद्देश्य सुख ही है। इस अनुभव के आधार पर हम एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि प्रत्येक अवस्था में मनुष्य का चरम आदर्श है सुख की प्राप्ति। इस प्रकार हमें नैतिक निर्णयों का एक मानदण्ड भी मिल जाता है और जीवन का एक उद्देश्य भी।

इस सिद्धान्त के माननेवाले कतिपय आधुनिक विचारक हैं जैसे, मिल, बेन, बेन्थम, ह्यूम आदि। वे इस निष्कर्ष पर जोर डालते हैं कि जब सुख की प्राप्ति मनुष्य के लिये इतना स्वाभाविक है तो फिर हम इस बात से घबड़ायें नहीं अथवा इसपर पर्दा न डालें। हमें खुलकर सुख की प्राप्ति करनी चाहिये। अधिकाधिक सुख का मिलना ही हमारे कार्यों की चरम परिणति है, क्योंकि यही हमारे लिये स्वाभाविक है। इस बात को प्रमाणित करने की अथवा स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं, यह तो एकदम स्पष्ट रूप में, सब दिन से हमारा स्वभाव रहा है। हम स्वभावतः उसी वस्तु की इच्छा करते हैं जिससे हमें सुख

मिलने की संभावना होती है और जिस वस्तु से दुख अथवा कष्ट होने की आशंका होती है उससे हम घृणा करते हैं या उससे दूर रहना चाहते हैं। किसी वस्तु की कामना और उससे सुख-प्राप्ति की आशा एक ही तथ्य के दो पहलू हैं। यदि हम किसी वस्तु की कामना करते हैं तो इसका और कोई कारण ही नहीं हो सकता, सिवाय इसके कि उससे हमें सुख मिलने की आशा है। इसी बात को ध्यान में रखकर 'मिल' ने कहा है कि

"Desiring a thing and finding it pleasant, aversion to it and thinking of it as painful, are phenomena entirely inseparable or rather two parts of the same phenomenan, . and that to desire anything, except in proportion as the idea of it is pleasant, is a physical and metaphysical impossibility"

इस सिद्धान्त की स्थापना स्पष्टतः किसी आदर्श अथवा लक्ष्य के रूप में नहीं की गई है बल्कि यह कुछ अनुभवों के आधार पर स्थापित एक व्यापक नियम है। इसमें केवल वस्तुस्थिति का वर्णन भर मिलता है और इसीसे और दूसरे निष्कर्ष निकाले जाते हैं। यह वस्तुस्थिति अथवा तथ्य (fact) प्रधानतः मनोवैज्ञानिक है, क्योंकि यह मानव आचरण के मानसिक विश्लेषण पर आधारित है। इसी कारण इसे मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism) कहा जाता है।

अब हमें विचार करना है कि क्या सचमुच मनोवैज्ञानिक सुखवाद तथ्यों पर आधारित है और क्या नीतिशास्त्र के लिये इसका कुछ महत्त्व है? वास्तव में मनोवैज्ञानिक सुखवाद का आधार सन्तोषजनक नहीं और यदि ऐसा हो भी तो कम से कम नीतिशास्त्र के लिये इसका कुछ महत्त्व नहीं है। उल्टे यह नैतिक सुखवाद के लिये घातक सिद्ध होता है। इसकी प्रधान दिक्कतें निम्नांकित हैं :

(१) ऐसा कहना उचित है कि तथाकथित मनोवैज्ञानिक सुखवाद का आधार ही मनोवैज्ञानिक नहीं। वास्तव में देखा जाय, तो यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य को तोड़-मरोड़कर सामने रखता है। अपने व्यवहार को ध्यान से देखने से

पता चलेगा कि हम वास्तव मे किसी 'वस्तु' (object) की कामना करते हैं और इसके मिलने से हमें सुख प्राप्त होता है। इसी को उलट कर मनोवैज्ञानिक सुखवाद की स्थापना होती है।

हम असल में सुख की भावना (feeling of pleasure) के लिये चेष्टा नहीं करते बल्कि हमेशा ही किसी वस्तु के पाने की कोशिश करते हैं। अब यह बात और है कि इस इच्छित वस्तु के मिलने से हमें आनन्द हो जाय। प्रो० मैकेन्जी का यह कहना एकदम सही है कि बहुत से तथाकथित सुखों का नाम भी मिट जाय यदि उनके पूर्व हमारे भीतर कमी अथवा अपूर्णता की भावना वर्त्तमान न रहे।

इस प्रकार असल सिलसिला तो ऐसा होता है। पहले किसी अभाव की चेतना के कारण हमारे अन्दर एक खटका अथवा बेचैनी होती है। इसे दूर करने के लिये हम किसी वस्तु की कामना करते हैं और इसके मिलने पर हमे संन्तोष अथवा सुख का अनुभव होता है। अतः कामना का विषय (object) सुख नहीं, बल्कि कोई सुखद वस्तु होती है। सुख तो इसकी प्राप्ति के फलस्वरूप निःसृत होती है।

(२) लेकिन यदि थोड़ी देर के लिये हम मान भी लें कि हम वास्तव में सुख की कामना करते हैं और उसे ही प्राप्त करना चाहते हैं, तो भी सुख पाने का सही तरीका यह नहीं कि हम उसके पीछे लगे रहें। चेतन रूप में हम जितना अधिक सुख की पीछे दौड़ते हैं, वह उतना अधिक दूर होता जाता है। यह एक प्रकार की मृग मरीचिका है। सुख के पीछे पागल हो जाने से सुख नहीं मिलता उल्टे हमें कष्ट का अनुभव होता है। अत. सुख पाने का सही रास्ता यह है कि इस बात को अपने दिमाग से निकालकर हम सुखद वस्तुओं के लिये चेष्टा करें।

इसी को मनोवैज्ञानिक सुखवाद का विरोधाभास कहा जाता है कि हम जितना अधिक सुख के पीछे दौड़ते हैं उतना ही अधिक वह हमसे दूर होता जाता है। सुख की रट लगाते रहने से सुख नहीं मिलता। इसीलिये कहा जाता है कि "The impulse towards pleasure, if too predominant,

defeats its own aim." मिल के शब्दों में इसी को हम इस प्रकार कह कह सकते हैं कि "only those are happy who have their minds fixed on some object other then their own happiness. Ask yourself whether you are happy, and you cease to be so."

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद में एक विरोधाभास है जिसे Paradox of Hedonism कहा जाता है।

(३) तीसरी बात यह है कि वास्तव में हम हमेशा सुख की ही खोज नहीं करते। हमारे अनेक कार्य ऐसे होते हैं जिनमें अपना सुख ही हमारा उद्देश्य नहीं होता, बल्कि और कुछ। हम जब अपने एक असहाय मित्र की आर्थिक सहायता करते हैं तो इसमें हमें सन्तोष की भावना के अलावा और कोई सुख नहीं मिलता। इतिहास में हम ऐसे त्यागियों का जिक्र पाते हैं जिन्होंने अपने स्वार्थों को भूलकर परोपकार के लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया है। यहाँ सुख की चर्चा भी नही है। माता अपने बच्चे की सुख-सुविधा के लिये सब कुछ त्याग देती है। इसे हम निजी सुख से प्रेरित नहीं कह सकते। इस तरह ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जिनमें सुख नही बल्कि अन्य कुछ हमारा लक्ष्य होता है।

(४) लेकिन सबसे बड़ा दोष तो यह है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद को नैतिक सुखवाद का आधार नहीं सिद्ध किया जा सकता। बल्कि असलियत तो यह है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद को मानने से नैतिक सुखवाद का कोई स्थान ही नहीं रह जाता। ये दोनों एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं। यदि हम यह मान लेते हैं कि हम स्वभावतः अपने सुख की कामना हमेशा करते हैं तो फिर यह कहने में कोई अर्थ नही होता कि हमें सदा अपने लिये सुख की प्राप्ति करनी चाहिये। जो बात स्वाभाविक रूप में आप से आप होता ही है उसके बारे में "होना चाहिये" का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद नैतिक सुखवाद का विरोधी है और नीति शास्त्र में उसका कोई काम नहीं।

Q. 12. State and examine Egoistic Hedonism as the standard of moral judgement

स्वार्थी सुखवाद (Egoistic Hedonism) वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही लिये सर्वाधिक सुख-उपार्जन की शिक्षा मिलती है। इस मत के अनुसार हमारे लिये दूसरा कोई बन्धन अथवा उद्देश्य नहीं है। जो कार्य हमारे निजी सुख के साधन में सहायक हो वह उचित है और जो इस उद्देश्य में बाधक हो वह अनुचित और त्याज्य। अपने लिये सर्वाधिक सुख प्राप्त करना ही हमारा चरम लक्ष्य होना चाहिये। यदि हम ऐसा करने में सफल हो जाते हैं तो हमारा जीवन सार्थक है अन्यथा निरर्थक। सुखों की उपलब्धि में हमें दो ही बातों का ख्याल रखना आवश्यक है (१) सुख की तीव्रता (Intensity) और (२) उसका स्थायित्व (duration)। दो सुखों में जो अधिक तीव्र हो उसी के लिये हमें चेष्टा करनी चाहिये और उसी प्रकार जो अधिक स्थायी अथवा अधिक देर तक ठहरनेवाला हो उसकी ओर पहले ध्यान देना चाहिये।

यह सिद्धान्त इस विश्वास पर निर्भर है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी होता है। उसे अपने स्वार्थों की सिद्धि ही अभीष्ट होती है और यदि संयोग से कोई दूसरों के लिये कुछ करता दिखाई पड़े तो तुरत समझ लेना चाहिये कि वह टट्टी की ओट में शिकार खेल रहा है। वास्तव में ऐसा सम्भव ही नहीं कि व्यक्ति अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरे के लिये किसी प्रकार का प्रयास करे। इस प्रकार यह सिद्धान्त कुछ अंश तक मनोवैज्ञानिक सुखवाद को भी अपना आधार मानता है।

लेकिन यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि यदि सचमुच ही मनुष्य इस प्रकार स्वार्थी होता है तो समाज और राज्य जैसी संस्थाओं का विकास किस प्रकार हुआ जिनसे सबों के स्वार्थों की सिद्धि होती है? हम देखते हैं कि समाज के कल्याणार्थ कभी-कभी हम अपने स्वार्थों को त्याग कर भी जाते हैं। यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है?

इसका उत्तर यह दिया जाता है कि वास्तव में समाज का कल्याण स्वेच्छा अथवा उत्साह से नहीं किया जाता। यह भी मनुष्य की चतुरता (prudence) और स्वार्थ भावना से प्रेरित है। हम जानते हैं कि बिना समाज के सहयोग के

अपने स्वार्थों की सिद्धि सम्भव नहीं, इसीलिये हम एक दूसरे से मिलकर काम करने को राजी होते हैं। सृष्टि के आरम्भ में समाज नाम की कोई चीज न थी। प्रत्येक व्यक्ति अपनी जरूरतों को पूरी करने की कोशिश करता था। हर व्यक्ति को अपने ही स्वार्थ से मतलब था। लेकिन इसके चलते बराबर ही लोगों को आपस में झगड़े हो जाया करते थे। ऐसी हालत में किसी का भी कार्य ठीक तरह से नहीं चलता था। इसलिये सभी लोगों ने मिलकर आपस मे एक सममौता किया और एक दूसरे के साथ सहयोग करने का जिम्मा (Contract) लिया। इसी के चलते समाज का प्रादुर्भाव हुआ। इसको Social Contiact का सिद्धान्त कहा जाता है। इस प्रसकार हम देखते हैं कि समाज का प्रारम्भ भी स्वार्थी मनुष्यों की स्वार्थ-सिद्धि की भावना से ही हुआ।

फिर यदि हम यह कहें कि दया, सहानुभूति, क्षमा, मित्रता आदि सद्गुणों को स्वार्थसाधक नहीं माना जा सकता, तो यहाँ भी हम भारी भूल करेंगे। विश्लेषण करके यदि देखा जाय तो हमें पता चल जायगा कि ये तथाकथित परार्थवादी गुण भी वास्तव में स्वार्थ सिद्धि के ही लिये हैं। हम किसी को दान देते हैं परोपकार की भावना से नहीं बल्कि उसको अपनी श्रेष्ठता का रोब लेने के लिये। मित्रता हम इसलिये करते हैं कि हम अपने मित्र से या तो लाभान्वित हो चुके हैं अथवा भविष्य में हम लाभ की आशा रखते हैं। इस प्रकार हमारा प्रत्येक कार्य ही स्वार्थ से भरा होता है।

इस प्रकार अपने सुख की उपलब्धि तो हम हमेशा स्वभावतः करते ही हैं लेकिन यह सुख सदा हमारा सर्वाधिक सुख (gıeatest pleasure) नहीं होता। इसी बात को हमें याद रखनी है और इसी की प्राप्ति हमारा उद्देश्य होना चाहिये।

अब स्वार्थी सुखवाद के भी दो भेद किये जाते हैं: (१) निकृष्ट (gross egoism) तथा (२) उत्कृष्ट (Refined egoism)।

जो सुखवादी यह मानते हैं कि दो सुखों में केवल परिमाण (quantıty) का अन्तर होता है वे निकृष्ट स्वार्थवादी कहे जाते हैं। उनके अनुसार जीवन का कोई भरोसा नहीं। जो आज है कल नहीं। अत. हमें जहाँतक सुखों की

प्राप्ति हो सके अविलम्ब कर लेनी चाहिये। कल के भरोसे आज का कोई सुख त्याग देना मूर्खता है। कल एक मयूर मिलने की उम्मीद में आज का कबूतर छोड़ देना बुद्धिमानी नहीं है। जो ही हाथ, सो ही साथ। इस प्रकार यह सिद्धान्त निराशा जनित है। इसके माननेवाले पाश्चात्यों में Aristippus और भारतीयों मे चार्वाक हैं।

इस विचार के माननेवालों सिद्धान्त होता है प्रत्येक का अपने लिये सुखोपार्जन (Each one for himself)। हमारा भविष्य सन्देहात्मक है अतः आज ही जहाँ तक सम्भव हो सुख भोग लिया जाय। "Eat, drink and be merry, for tomorrow we may die"

इसके विपरीत कुछ ऐसे विचारक हैं जो सुखोपलब्धि में बुद्धि (reason) की सहायता लेना पसन्द करते हैं। उनके अनुसार सुख का परिमाण ही सब कुछ नहीं। कोई सुख यदि परिमाण में भी काफी है पर नीच कोटि का है तो उसका त्याग करना चाहिये। सुख का महत्त्व सुख ही में नहीं है वल्कि उसका उद्देश्य है दुख से छुटकारा। इस प्रकार जिस सुख में दुख की मात्रा सबसे कम है उसे हमें स्वीकार करना चाहिये। उसी तरह यदि आज एक छोटे से सुख का त्याग करने से कल हमें इससे वहुत वड़ा सुख मिल सकता है, तो हमें उसको अवश्य ही छोड़ देना चाहिये। यहाँ हमें अपने विवेक की सहायता लेनी चाहिये।

सुख का मतलब यह नहीं कि सुखों में प्रकार का भेद नहीं होता। सभी सुख परिमाण मे एक होने पर भी वरावर की महत्त्व के नहीं होते। कवड्डी के खेल में और कविता के रसास्वादन में एक ही प्रकार का सुख नहीं। अत इस प्रकार के भेदों को हमे ध्यान में रखना चाहिये और उन सब के लेखा जोखा के वाद किसी सुख के लिये प्रयास करना चाहिये। इस मत के माननेवाले Epicurus तथा संस्कृत चार्वाक हैं। Epicurus का सिद्धान्त इस प्रकार है·

"The pleasure which produces no pain is to be embraced. The pain which produces no pleasure is to be avoided. The pleasure is to be avoided which

prevents a greater pleasure. The pain is to be endured which averts a greater pain or secures a greater pleasure."

इस प्रकार सभी स्वार्थी सुखवादियों के अनुसार मनुष्य को अपना ही सर्वाधिक सुख प्राप्त करना चाहिये। यही हमारा उद्देश्य और नैतिक निर्णयों का मापदण्ड है। लेकिन विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी प्रकार का भी स्वार्थवाद स्वीकार्य नहीं हो सकता। स्वार्थवाद के विरुद्ध ये आपत्तियाँ हो सकती हैं :

(१) स्वार्थी सुखवाद प्रायः मनोवैज्ञानिक सुखवाद पर आधारित होता है और हमने देखा है कि वह स्वीकार्य नहीं, अतः स्वार्थवाद की आधारशिला ही गिर जाती है।

(२) स्वार्थवाद को अपनी सीमातक ले जाने से हमें एक विरोधाभास का सामना करना पड़ता है। हम जितना ही अधिक अपने सुखों के विषय में चेतन रहते हैं, उतना ही वह हमसे दूर होता जाता है। अतः यहाँ भी Paradox of Hedonism लागू हो जाता है।

(३) स्वार्थवाद के अनुसार स्वार्थ ही हमारे लिये सब कुछ होता है। जो तथाकथित परमार्थी गुण भी हैं वे वास्तव में स्वार्थ-साधन के ही लिये हैं। लेकिन यह मत एकाकी और अशुद्ध है। वास्तव में स्वार्थ के साथ ही साथ परमार्थ का भी अंकुर मानव में जन्मजात होता है। आत्मरक्षा ही नहीं आत्मोत्सर्ग भी मानव का प्राचीन संस्कार और गुण है।

(४) स्वार्थवाद से जो मापदण्ड हमें प्राप्त होता है वह समरस अथवा uniform नहीं। सुख और दुख के अनुभवों में दो व्यक्तियों में बराबर ही भिन्नता होती है। जो एक व्यक्ति के लिये सुखद होता है वही दूसरे के लिये दुखद हो सकता है। और जब ऐसी अनेकरूपता है तो हम इसे नैतिकनिर्णयों का मापदण्ड (Standard) नहीं मान सकते।

(५) इस सिद्धान्त के अनुसार हमें दो सुखों के बीच निर्णय करने के लिये दो वस्तुओं का विचार करना चाहिये (१) तीव्रता (Intensity) और स्थायित्व (Duration)। पर इससे झंझट खतम नहीं होती। अब इन दोनों में से किसे

श्रेष्ठ समझा जाय यह निर्णय करना आसान नहीं। जो अधिक तीव्र हो वह श्रेयस्कर है। अथवा जो अधिक देर तक टिकता है ? इस का निर्णय बहुत ही मुश्किल है।

(६) स्वार्थवाद का जो निकृष्ट (gross) रूप है उसे कोई भी नैतिक व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता। इसके अनुसार तो विश्व में शायद ही ऐसा कोई आचरण रह जायगा जो नहीं किया जा सकता। अपने सुख के लिये कोई व्यक्ति अधम से अधम कार्य भी कर सकता है। पर ऐसा करना नैतिकता के लिये शोभनीय नहीं। इसमें विवेक और बुद्धि का महत्त्व एकदम ही नहीं रह जाता।

(७) इसका जो परिमार्जित अथवा उत्कृष्ट रूप है वह भी त्रुटिपूर्ण है। Epicurus ने इस प्रकार के स्वार्थवाद की शिक्षा दी लेकिन स्वयं उस के अनुसार सुख स्वयं महत्त्वपूर्ण नहीं होता है बल्कि इसका असल महत्त्व है दुख के अभाव अथवा अन्त में। जो कार्य जितना कम कष्टप्रद हो वह उतना ही श्रेयस्कर है। इस पहलू पर Epicurus ने इतना अधिक जोर डाला कि इसमें सुख की चर्चा ही न रही। उनके अनुयायियों ने इसका अर्थ इस प्रकार किया कि संघर्ष रहित जीवन ही श्रेयस्कर है अतः जीवन की झंझटों से बचना ही उनका उद्देश्य हो गया। इस तरह वह स्वयं अपने आदर्श से विचलित हो जाता है। और जीवन का आदर्श सुख न रहकर और कुछ हो जाता है।

Q. 13. Is utilitarianism a sound theory of moral judgement ? Give reasons for your answer.

उपयोगितावाद (Utilitarianism) का महत्त्व समझने के लिये यह आवश्यक है कि पहले हम यह समझें कि उपयोगितावाद है क्या। हमने देखा है कि स्वार्थी सुखवाद को नैतिक निर्णय का मापदण्ड मान लेने में अनेक अड़चनें होती हैं। अतः आधुनिक सुखवादियों की ऐसी चेष्टा रही है कि सुखवाद में परार्थवाद का भी समावेश कर सकें।

इनके अनुसार सुख अथवा आनन्द तो हमारा उद्देश्य है ही और होना चाहिये किन्तु यह केवल अपना ही सुख नहीं बल्कि सबों का सुख। और यदि

किसी परिस्थिति में सबों को सुख सम्भव न हो सके तो सर्वाधिक लोगों का सर्वाधिक सुख (Greatest happiness of the greatest numbers) ही हमारा उद्देश्य होना चाहिये। इस प्रकार हमें सिर्फ अपने ही सुख से सम्बन्ध नहीं, बल्कि दूसरों से भी है। इस सिद्धान्त को उपयोगितावाद (utilitarianism भी कहा जाता है, क्योंकि इसके अनुसार किसी भी कार्य के विषय में निर्णय देने में यह देखना चाहिये कि यह "सर्वाधिक मनुष्यों को सर्वाधिक सुख" की उपलब्धि में उपयोगी है अथवा नहीं।

इस मत के माननेवाले हैं मिल, बेन्थम, बेन और ह्यूम इत्यादि। ये सभी २५ बात को मानते हैं कि ज्यादा से ज्यादा से ज्यादालोगों का ज्यादा सुख ही हमारा अभीष्ट है। लेकिन एक प्रश्न को लेकर मिल और बेन्थम में अन्तर हो जाता है। वह प्रश्न यह है कि हम जो ज्यादा से ज्यादा या सर्वाधिक सुख को उपलब्धि करेंगे, तो उसके लिये आवश्यक है के हम पहले से ही विचार के स्तर पर (on an ideal plane) उसकी गणना किये रहें। अब उस गणना अथवा लेखा जोखा में किन बातों का ख्याल रखना जरूरी है इसी बात को लेकर भेद उपस्थित होता है। बेन्थम के अनुसार केवल परिमाण (Quantity) ही सब कुछ है किन्तु मिल के अनुसार Quality या गुण का भी ख्याल रखना आवश्यक है।

इसी आधार पर यदि हम चाहें तो बेन्थम के मत को निकृष्ट (Gross) उपयोगितावाद और मिल के मत को उत्कृष्ट (Refined) उपयोगितावाद कह सकते हैं।

अब हम बेन्थम तथा मिल के विचारों की अलग-अलग व्याख्या करें।

बेन्थम का उपयोगितावाद इनके अनुसार सुखों के बीच केवल परिमाण (quantity) का फर्क पड़ता है। उनके बीच कोई गुणात्मक भेद नहीं होता है। यदि दो सुखों की मात्रा बराबर हो तो उनमें और किसी प्रकार का भेद हो ही नहीं सकता। (push-pin is as good as poetry) इस परिमाण के ही विभिन्न पहलू होते हैं और उन सब का ख्याल रखना आवश्यक है। वे हैं :

(१) तीव्रता (Intensity) (२) अवधि (Duration)

(३) सामीप्य (Nearness (४) निश्चयता (Cartainty)

(५) पवित्रता (Purity) (६) साफल्य (Fruitfulness)

(७) व्यापकता (Extensity)

दो सुखों में जो अधिक तीव्र हो वही श्रेष्ठ है। तीव्रता के अतिरिक्त जो जितना स्थायी है वह श्रेष्ठ है। इसी प्रकार इन सभी बातों का ख्याल करते हुए जो सुख सर्वश्रेष्ठ मालूम पड़े उसके लिये ही प्रयास करना चाहिये। इतना करने में यदि हम सफल हो गये तो हमारे लिये नैतिक निर्णयों में कोई दिक्कत ही नहीं रह जायगी। के कहते हैं कि "Weigh pleasures, weigh pains, and as the balance stands, will stand the question of right and wrong."

लेकिन बेन्थम के सिद्धान्त की एक खास विशेषता यह है कि वह परार्थवादी होने पर भी मनोवैज्ञानिक सुखवाद की तरह ही मनुष्य के स्वार्थी स्वभाव पर जोर डालता है। हम स्वभावतः तो निश्चित रूप से स्वार्थी होते ही हैं लेकिन अन्य कारणों से एक दूसरे से सहयोग करते हैं। वास्तव में, अपने लिये अधिक से अधिक सुख इकट्ठा करना ही हर आदमी का अभीष्ट होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। वे कहते हैं

"Every man is nearer to himself than he canbe to any other man; and no other man can weigh for him his pleasure and pain. Himself must necessarily be his own first concern. His interest must, to himself be the primary interest"

लेकिन प्रश्न उठता है कि यदि यह सत्य है तो फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वह दूसरों का भी सुख चाहे। स्वार्थ और परार्थ में यह सामञ्जस्य किस प्रकार स्थापित होता है? उनका उत्तर है कि ऐसा होता है कुछ बाह्य कारणों से जिन्हें वे Sanctions of morality कहते हैं। वे चार प्रकार के होते हैं (१) प्राकृतिक, (२) सामाजिक, (३) धार्मिक और (४) राजनैतिक। इन्हीं व्यवस्थाओं अथवा नियमों के कारण हम स्वार्थी होते हुए भी परार्थी बने रहते हैं।

मिल का मत मिल के अनुसार में सुखों में केवल मात्रा अथवा परिमाण का ही अन्तर नहीं होता। इनके अतिरिक्त भी और बातें हैं जिनके कारण दो सुखों में एक श्रेष्ठ और दूसरा निकृष्ट होता है। दो सुख यदि परिमाण में बराबर हो भी तो उनमें आपस का और गुणात्मक अन्तर हो सकता है और होता ही है। लेकिन एक विकट समस्या तब भी रह जाती है। वह यह कि यह गुणात्मक भेद बनाने के लिये हमारे पास क्या अन्तर है? किस आधार पर हम कह सकते हैं कि एक सुख दूसरे सुख से गुणात्मक आधार पर श्रेष्ट है?

इसका उत्तर वे यह देते हैं कि वास्तव में इसका निर्णय करना सब के लिये सम्भव नहीं है। ऐसा वे ही लोग कर सकते हैं जो योग्य हैं (Competent)। जिन लोगों की चेतना विकसित है और जिन्हें इन सब चीजों का अच्छा अनुभव है वही लोग यह बता सकते हैं कि दो सुखों में क्या गुणात्मक भेद है। लेकिन फिर यहाँ एक प्रश्न रह जाता है कि ये योग्य व्यक्ति (Competent judges) किस चरम आदर्श अथवा विचार के अनुसार अपना निर्णय दें? मिल का कहना है कि वे "मानव-जाति की प्रतिष्ठा की भावना" (sense of dignity) से प्रेरणा ग्रहण करेंगे। इसका कारण यह है कि हम इसी भावना के कारण किसी भी शर्त पर मनुष्य से पशु अथवा और कुछ बनना नहीं चाहते। इसी बात को ख्याल कर कहा गया है कि "It is better to be Socrate dissatisfied than a pig satisfied."

इसके अतिरिक्त एक और बात में मिल का सिद्धान्त बेन्थम के सिद्धान्त से श्रेष्ठ प्रमाणित होता है। हमने देखा है कि बेन्थम मनुष्य के परार्थी होने के लिये कुछ बाह्य कारणों (External sanctions) की चर्चा करते हैं। लेकिन हम जानते हैं कि केवल बाहरी बातों के ख्याल से जैसे पुरस्कार के लोभ में अथवा दण्ड के भय से जो आचरण किया जाता है उसे नैतिक नहीं माना जाता। इस प्रकार बेन्थम के विचार में एक भारी त्रुटि आ जाती है। इसी को दूर करने के लिये मिल इन बाहरी कारणों के अलावा एक आन्तरिक कारण (Internal sanction) की बात करते हैं जिनकी वजह से हम स्वार्थी होकर भी दूसरों का सुख चाहते हैं। वह आन्तरिक कारण है "दूसरों के दुख-सुख

के साथ सहयोग की भावना।" इस प्रकार मिल उपयोगितावाद को यान्त्रिक (mechanical) होने से बचाते हैं।

आलोचना लेकिन मिल के इन सुधारों के बावजूद हम यह देख सकते हैं कि उपयोगितावाद अथवा किसी प्रकार का सुखवाद नैतिक निर्णयों का सन्तोष-जनक सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। उपयोगितावाद के सम्बन्ध में कुछ आपत्तियाँ बड़ी ही प्रबल हैं।

(१) सुखों के गुणात्मक भेद के निर्णय में मिल योग्य व्यक्तियों (Competent judges) की बात करते हैं। अब ये व्यक्ति किस आधार पर अपना निर्णय दे सकते हैं, तो मिल बताते हैं कि यह 'प्रतिष्ठा की भावना' (sense of dignity) के आधार पर। इसे यदि सही माना जाय तो हमारा चरम आदर्श सुख नहीं बल्कि और कुछ है क्योंकि सुखों की ऊँचाई-नीचाई में भी हम और किसी बात का ख्याल करते हैं। अतः यही हमारा चरम आदर्श हो जाता है। इस प्रकार सुखवाद की जड़ ही कट जाती है।

(२) स्वार्थ से परार्थ में अथवा "Each one for himself" से "each for all" में परिवर्तन किस प्रकार सम्भव हो सकता है, इसकी कोई समुचित व्याख्या नहीं। मिल के अनुसार मेरा सुख मुझे प्रिय है। आपका आपको तथा उसका उसको। अतः मेरा सुख + आपका सुख + उसका सुख = हम सब का सुख। लेकिन इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के सुखों का योग सम्भव ही नहीं है। यह कोई किराना माल (Marketable commodity) नहीं है।

(३) तीसरे, मिल के अनुसार एक व्यक्ति के सुख और दूसरे व्यक्तियों के सुख में कोई विरोध नहीं। किन्तु यह धारणा गलत है। हम देखते हैं कि एक का सुख दूसरों के लिये दुखद होता है और एक का दुख दूसरों के लिये सुखद हुआ करता है। दूसरों को सुख देने के लिये आवश्यक है कि हम अपने सुख और स्वार्थ को त्याग दें। सब एक साथ ही होना मुश्किल है।

(४) वास्तव में हमें उपयोगितावाद अथवा सुखवाद में कोई सन्तोषजनक मापदन्ड (Standard) नहीं मिलता। उपयोगितावाद का उद्देश्य है अधिकतम

से ज्यादा लोगों के लिये ज्यादा से ज्यादा सुख। यदि इस उद्देश्य की पूर्ति हो सके तो ऐसा आचरण नैतिक होगा। इस प्रकार यदि एक व्यक्ति के चोरी करने से बहुत से लोगों का कल्याण होता है तो इस चोरी में कोई आपत्ति नहीं। पर ऐसी बात है नहीं। हम वास्तव में चोरी को हमेशा अनैतिक समझते हैं।

(५) इनके अतिरिक्त हमने देखा है की सुखवाद कि सबसे बड़ी समस्या है सुखों की मात्रा नापना या समझना। दो सुखों में किसे और क्यों श्रेष्ठ समझा जाय यह जानना आसान नहीं। गुणात्मक भेदों के आजाने से यह झंझट और बढ़ जाती है।

बुद्धिवाद

Q. 14 Explain and examine Rigorism as a theory of moral standard

विवेकवाद अथवा बुद्धिवाद (Rigorism) वह नैतिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार विवेक या बुद्धि ही हमारे कर्त्तव्याकर्तव्य का एक मात्र निर्देशक है। Rigorism शब्द लैटिन 'Rigor' से बना है जिसका अर्थ होता है Inflexibility। अतः शब्दार्थ के हिसाब से यह वह सिद्धान्त है जो नैतिक नियम (Moral law) को निरपेक्ष और अपवाद रहित (without exception or fluctuation) मानता है।

इस मत के माननेवाले यूनान के Cynics और Stoics हुए हैं। उनका उपदेश था कि मनुष्य को अपनी इच्छाओं तथा संवेदनाओं (Sensibility) का नाश कर केवल बुद्धि से निर्देश पर चलना चाहिये। हमें दुख और सुख की वेदनाओं से ऊपर उठने का प्रयास करना चाहिये। इस प्रकार उन्होंने एक प्रकार से वैराग्य और संन्यास को बढ़ावा दिया, क्योंकि जीवन और जगत से सम्बद्ध रहकर हम साधारणतः इच्छाओं से मुक्त नही हो सकते।

वर्तमान समय में इस मत के पोषक जर्मनी के महान दार्शनिक एमान्वेल कान्ट (Emanuel kant) हुए हैं। इन्होंने बुद्धिवाद को सदाचार का आदर्श माना है। इन्होंने मानसिक क्रियाओं को दो भागों में विभक्त किया है (१) विवेक (Reason) तथा (२) संवेदनशीलता (Sensibility)

अब इन दोनों में ये Sensibility को एकदम ही गौण और अधम मानते हैं और केवल विवेक को अपना आदर्श मानने की शिक्षा करते हैं। इसलिये कान्ट के सिद्धान्त को शुद्धिवाद (Purism) और विरक्तवाद (Asceticism) भी कहते हैं।

अन्तःकरण का आदेश ही सदाचार का एक मात्र आदर्श है और इसी को ध्यान में रखकर व्यक्ति को कार्य करना चाहिये, क्योंकि यह आदेश व्यक्ति का अपना आदेश है। अन्तःकरण अथवा विवेक के इस आदेश को उन्होंने Categorical Imperative की संज्ञा दी है। इसका अर्थ यह होता है कि अन्तरात्मा के आदेश में कभी कोई व्यतिक्रम नहीं होता। इसमें अपवाद अथवा शर्तों (Conditions) के लिये कोई स्थान नहीं। किसी भी स्थिति में हमें इस आदेश का पालन करना ही है। यह आत्मा की अनिवार्य आज्ञा है जिसकी अवहेलना नहीं हो सकती। इसे Categorical इसलिये भी कहा जाता है क्योंकि इसमें किसी वाह्य लक्ष्य की सिद्धि को ध्यान में नहीं रखा गया है बल्कि यह आदेश स्वयं ही सब कुछ है।

दुनियाँ के जो तथाकथित सद्गुण हैं वे निरपेक्ष रूप से शुभ नहीं हैं। निरपेक्ष शुभ तो केवल शुभेच्छा (Good will) है। (There is nothing good but the good will. Nothing can possibly be conceived in the world or even out of it, which can be called good without qualification except, good will) अन्य सभी वस्तुएं सापेक्ष हैं। अतः मनुष्य को शुभेच्छा (good will) का अभ्यास करना चाहिये, और यह तभी हो सकता है जब कि व्यक्ति बुद्धि अथवा अन्तःकरण के आदेश पर चलने की आदत डाले।

लेकिन शुभेच्छा कहते किसे हैं? इसका हम क्या तात्पर्य समझते हैं? शुभेच्छा हम उसे कहेंगे जो केवल विवेक के आदेश पर चले और अन्य बातों का ख्याल न करे। केवल अन्तरात्मा की जो पुकार हो उसी को सुनना और बाहरी नफा-नुकसान की बातों को भूल जाना ही शुभेच्छा की निशानी है। इस तरह शुभेच्छा से जो कार्य होता है वह विशुद्ध कर्त्तव्य के प्रति श्रद्धा की भावना

से किया जाता है। कर्त्तव्य करना इसलिये आवश्यक नहीं कि उससे किसी सुख की प्राप्ति हो सकेगी, वल्कि केवल कर्त्तव्य समझकर करना चाहिये। आकांक्षाओं से प्रेरित होकर नहीं, मात्र कर्तव्य-पालन के लिये जो कर्तव्य होता है वही नैतिक कहा जा सकता है और वही हमारा आदर्श होना चाहिये। (Duty for duty Sake is the true rule of life) कान्ट के अनुसार यदि हम दया अथवा सहानभूति की भावना से प्रेरित होकर किसी का उपकार करते हैं तो यह आचरण शुद्ध रूप में नैतिक नहीं कहा जा सकता। वह नैतिक तभी हो सकता है जब केवल कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर हम ऐसा करते हैं।

कान्ट के अनुसार विवेक का सबसे व्यापक और सुन्दर नियम यह है कि हम वही काम अपना कर्त्तव्य समझें जिसे सब कोई अपना सके और तब भी उससे समाज का अमंगल न हो

"The most general commands of Reason is Act so that your line of action may become universal."

कोई कार्य हमें इस प्रकार करना चाहिये जिसमें कभी भी मनुष्य लक्ष्य-प्राप्ति का साधन न बन जाय (Act so as to treat humanity in every case as in end withat ; never as a means only.)

कान्ट का 'Duty for duty sake' का सिद्धान्त गीता के निष्काम कर्म के सिद्धान्त से काफी मिलता है। कान्ट का कहना है कि हम कर्त्तव्य को मात्र कर्त्तव्य पालन की भावना से करें, इसलिये नहीं कि उससे हमे अच्छे फल की प्राप्ति हो सकेगी। कार्य-फल के विषय में सोचने से उसकी नैतिकता ही चली जाती है।

गीता के कर्ममार्ग में भी यही कहा गया है कि मनुष्य को अपना कर्त्तव्य कभी फल-प्राप्ति की इच्छा से नहीं करनी चाहिये। हमारा धर्म है केवल कर्त्तव्य करते जाना। फल देना तो ईश्वर के हाथ है, अतः उसके विषय में सोचना उचित नहीं है। इसीलिये कहा गया है 'कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषुकदाचनम्'

(we have a right to actions not to the fruits thereof) इस प्रकार गीता और कान्ट दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि कर्त्तव्य के करने में और किसी बात का विचार नहीं करना चाहिये।

लेकिन गीता में Sensibility के नाश की शिक्षा नहीं दी गई है। उसके अनुसार तो हमें विवेक और इन्द्रियों में सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त, कान्ट के अनुसार कर्त्तव्य में किसी भावना दया, सहानुभूति, प्रसन्नता आदि के लिये कोई स्थान नही, किन्तु गीता की शिक्षा ऐसी नहीं है। कान्ट के अनुसार आचरण करना अत्यन्ता कठिन हो जाता है, गीता में ऐसी बात नहीं।

अब हमें यह देखना है कि कान्ट तथा अन्य बुद्धिवादियों का मत कहाँ तक युक्तिसंगत है। वास्तव में Rigorism में बहुत से दोष हैं जिनके कारण इसे हम उसी रूप में नहीं मान सकते। वे दोष निम्नांकित हैं

(१) इस सिद्धान्त में Reason और Sensibility के बीच निरर्थक एक खाई खोदी जाती है? इस मत के समर्थकों की यह धारणा है कि ये दोनों ही एक साथ नहीं रह सकते, पर मनोवैज्ञानिक आधार पर इस वैमनस्य के लिये कहीं भी स्थान नहीं है। ये दोनों ही हमारे मानसिक जीवन के आवश्यक अंग हैं और दोनों साथ ही रह सकते हैं।

(२) इसका दूसरा दोष यह है कि यह संवेदना (Sensibility) को निम्न कोटि का और विवेकशून्य मानता है। लेकिन यह समझना कि संवेदना निश्चितरूप से विवेकहीन (Irrational) होता है, एकदम निराधार है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि किसी भी कार्य अथवा आचरण के लिये संकल्प (Volition or Conation) की भी आवश्यकता होती है। यदि यह विवेकहीन होता तो फिर सद्कार्यों में Volition या sensibility की कोई जरूरत न रह जाती। किन्तु बात ऐसी है नहीं।

(३) बुद्धिवादी नैतिकता वास्तव में वैराग्य का संदेश देती है। हमें यह सिखाया जाता है कि हम अपने पाशविक अंग को समाप्त कर डालें, उसका नाश कर डालें लेकिन यह आवश्यक नहीं। यह तो योगियों और संन्यासियों का आदर्श होना

चाहिये। साधारण मनुष्य के लिए इतना ही काफी है कि वह अपने पशुत्व को नियन्त्रण विवेक के द्वारा करे। इस प्रकार हमें नियन्त्रण अथवा संयम सीखना चाहिये। संवेदना का नाश कर डालना आवश्यक नहीं।

(४) कान्ट का मत वास्तविकता से बहुत ही दूर है। वे ऐसा सोचते हैं कि बिना किसी भावना। (feeling) के कर्त्तव्य करना सम्भव है। लेकिन यथार्थ यह नहीं है। हमारे जितने सद्कार्य होते हैं वे भावना से ओतप्रोत होते हैं। यदि किसी सद्कार्य अथवा धार्मिक आचरण के लिये हमारे हृदय में भावना न हो तो उसे करना सम्भव ही नहीं। जब तक किसी कार्य अथवा कामना की अच्छाई से हमारा हृदय सराबोर नहीं हो जाता तबतक उसेकर सकना सम्भव नहीं। दया, सहानुभूति, क्षमा आदि की भावनायें ऐसी हैं जिन्हें छोड़ने से वास्तव में हम मनुष्य ही नहीं रह जायेंगे।

(५) कान्ट ने एक नैतिक नियम की स्थापना कर दी है जिसे उन्होंने Categorical Imperative कहा है। हम जानते हैं कि कोई भी नियम साधन मात्र हो सकता है, आदर्श (end or purpose) नहीं। अतः कान्ट के नियम के पीछे भी कोई न कोई आदर्श आवश्यक होना चाहिये, लेकिन वे इस आदर्श की चर्चा नहीं करते।

(६) इसके अलावा कान्ट ने जिस नियम की स्थापना की है, वे कहते हैं उसका कोई अपवाद नहीं। जीवन की किसी भी परिस्थिति में हमें उसका पालन करना ही है, उसकी अवहेलना हो ही नहीं सकती। किन्तु ऐसा सम्भव नहीं। प्रत्येक नियम के कुछ अपवाद होते ही हैं, क्योंकि अपवादों के अभाव में नियम का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

(७) कान्ट इच्छाओं (desires) के नाश की शिक्षा देते हैं लेकिन यह उचित और हितकारी नहीं। नैतिक उत्कर्ष और विकास के लिये इच्छाओं का होना परमावश्यक है। यदि इच्छायें ही न हों तो व्यक्ति काम क्यों करेगा? हम जानते हैं प्रत्येक कार्य के लिये एक प्रेरणा (Incentive) की आवश्यकता होती है। यदि हम नैतिक आचरण करके सद्गुणी बनना चाहते हैं। तो ऐसी

इच्छा का होना आवश्यक है। इच्छाओं के नाश कर डालने से तो आचरण का स्रोत ही सूख जायगा।

(८) अन्त में हम कह सकते हैं कि कान्ट का सिद्धान्त अध्यात्मवाद (Metaphysical Idealism) पर आधारित है और इसी कारण हमें जीवन और जगत से दूर ले जाने का प्रयास करता है। कान्ट के अनुसार भावनामय जगत एकदम ही अवास्तविक है। अतः नैतिकता का आदर्श है इस जगत से ऊपर उठकर विवेकानुसार नैतिक नियमों का पालन करना। लेकिन यह इस विश्व से दूर की बात है।

Q. 15. Is Eudaemonism a satisfactory theory of moral judgement ? Give a reasoned answer.

जैसा कि नाम से ही विदित होता है पूर्णतावाद के अनुसार पूर्णता (perfection) की उपलब्धि ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिये। और दूसरे जितने भी सिद्धान्त नैतिकता के आदर्श के विषय में दिये गये हैं वे सभी एकांगी (onesided) हैं।

सुखवाद के अनुसार इन्द्रिय सुख अथवा आत्मतुष्टि ही नैतिकता का आदर्श है। इसीके लिये व्यक्ति को प्रयास करना चाहिये लेकिन हम जानते हैं कि सुखवाद किसी भी रूप में सन्तोषप्रद सिद्धान्त नहीं हो सकता।

इसके विपरीत कान्ट के विवेकवाद में बुद्धि अथवा विवेक को ही सब कुछ माना गया। यदि सुखवाद में विवेकात्मक निर्णय का अभाव है तो बुद्धिवाद में इन्द्रियसुख और भावना को एकदम ही बहिष्कृत कर दिया जाता है। इस प्रकार अगर सुखवाद में बौद्धिकता नहीं है तो विवेकवाद में वास्तविकता का अभाव है। अतः दोनों ही मत एकांगी और अपूर्ण हैं। क्योंकि दोनों मानसिक जीवन के केवल एक ही अंग को स्वीकार करते हैं।

उसी प्रकार अपरोक्ष-ज्ञानवाद अथवा बाह्य नियमवाद भी नैतिक निर्णयों के मापदण्ड की समुचित व्याख्या नहीं कर पाते। सबों में किसी न किसी रूप में एकांगीपन का दोष आ ही जाता है।

अतः समस्या के समाधान के लिये यह आवश्यक है कि हम उपर्युक्त सभी आंशिक सत्यों (Partial truths) का सामन्वय करके एक आदर्श की स्थापना करें। एक ऐसे सिद्धान्त का निर्माण होना चाहिये जिसमें इन सब का समावेश हो और जीवन के प्रत्येक पहलू को उचित स्थान और महत्त्व दिया गया हो। वह सिद्धान्त सर्वांगीन और बहुमुखी होनी चाहिये। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि हमारा आदर्श ऐसा हो जो सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास में सहायक हो और संपूर्णता अथव पूर्णता (perfection) जिसका लक्ष्य हो।

पूर्णतावाद का यही उद्देश्य है। इसका लक्ष्य है पूर्णता की प्राप्ति। व्यक्तित्व के जितने सारे अंग हैं, चाहे वह विवेक हो अथवा संवेदनशीलता (Sensibility,) सब का उत्तरोत्तर विकास करके, सबों के बीच सामंजस्य स्थापित करके पूर्णता अथवा (Perfection) की प्राप्ति ही हमारा वास्तविक उद्देश्य होना चाहिये। इसीलिये इस सिद्धान्त को Perfectionism कहा जाता है। इसका दूसरा नाम है Eudaemonism जो Eudaemonia से बना है और जिसका अर्थ होता है welfare या wellbeing। अतः Eudaemonism का मतलब होगा वह सिद्धान्त जो मानव का कल्याण, उसका विकास और उसकी पूर्णता को अपना लक्ष्य मानकर आगे बढ़े।

इस मत के समर्थक प्लेटो, आरस्तू, हेगेल, ग्रीन आदि बड़े-बड़े अध्यात्मवादी दार्शनिक (Idealist philosophers) हुए हैं। अतः स्वाभाविक है कि यह सिद्धान्त कुछ अध्यात्मवादी विश्वासों पर आधारित है। सभी आदर्शवादियों का यह विश्वास है कि मानव आत्मा एक अद्भुत वस्तु है और इसकी शक्ति अपरिमेय है। देखने में वह चाहे जैसा भी लगे, लेकिन उसकी आन्तरिक शक्तियाँ (Internal possibilities) बड़ी अद्भुत हैं, क्योंकि अन्तिम अवस्था में आत्मा परमात्मा से भिन्न नहीं। इन्हीं आन्तरिक संभावनाओं (possibilities) की प्राप्ति हमारा उद्देश्य होना चाहिये। इनको प्राप्त करने का अर्थ होता है आत्मबोध (Self-realisation) और यही हमारा आदर्श है।

पूर्णता (Perfection) की उपलब्धि में और भी बहुत सी बातें निहित हैं। अतः इनका विश्लेषण करके हम देखें कि कौन-सी धारणायें इसके अंतर्गत वर्त्तमान हैं।

(१) सर्वप्रथम तो इसका अभीष्ट है पूर्णता की प्राप्ति अथवा आत्मोपलब्धि (Self-realisation)। जीवन के सभी पहलुओं का समुचित और सामंजस्य-पूर्ण विकास ही हमारा चरम आदर्श है। इस आदर्श की प्राप्ति के बाद आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार अथवा उसमें बिलयन हो जाता है। अतः आत्मा की इन्हीं आन्तरिक शक्तियों का विकास करना चाहिये।

(२) इसीसे हमें नैतिक निर्णयों का मापदण्ड भी मिल जाता है। जो आचरण पूर्णता की उपलब्धि में सहायक हो वह उचित है और जो इस लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक प्रमाणित हो वह अनुचित और त्याज्य है। पूर्णता का साधक आचरण निश्चित रूप से शुभ अथवा सत होगा। अतः नैतिक निर्णय का आदर्श भी हमें इसमें मिलता है।

(३) यह सत् कोई ऐसा आदर्श नहीं जिसकी उपलब्धि के लिये समाज अथवा संसार का त्याग आवश्यक हो। हम इस जीवन और जगत् में रहकर तथा अपने विवेक के उत्तरोतर विकास द्वारा इस लक्ष्य की प्राप्ति कर सकते हैं। यह पूर्णता सिर्फ उस व्यक्ति के लिये ही शुभ नहीं होता बल्कि यह सम्पूर्ण समाज अथवा मानवता के लिये वाञ्छनीय है। (It is a common good realisable in society)

(४) पूर्णता का अर्थ ही होता है सभी अंगों का सामंजस्य न कि किसी एक का दमन। हमने देखा है कि नैतिकता के और सब सिद्धान्त जीवन के किसी अंग विशेष के विकास पर ही जोर डालते हैं। और इसीलिये हमने उन्हे एकांगी माना है लेकिन पूर्णता की प्राप्ति में यह सम्भव नहीं। आत्मोपलब्धि तो एक ऐसा आदर्श है जो विभिन्न पहलुओं के सामंजस्यपूर्ण (harmonious) विकास से ही सम्भव हो सकता है। अत यहाँ जीवन के किसी भी अंग का दमन अथवा नाश नहीं सिखाया जाता, बल्कि उनका नियन्त्रण-मात्र (mere control or regulation)

(५) पूर्णता के लिये प्रयास करने में हमें एक विचित्र प्रकार के आनन्द अथवा सन्तोष का अनुभव होता है। जैसा हम जानते ही हैं, कोई भी सद्कार्य तबतक सम्पन्न नहीं हो सकता जबतक उसके पीछे हमारी कोई महती भावना न हो।

कोई भी व्यक्ति नैतिक तबतक नहीं हो सकता जबतक नैतिक आचरण करने में उसे आन्तरिक आनन्द का अनुभव न हो। यही आन्तरिक आनन्द तो उसकी स्वेच्छा और उत्साह का सूचक होता है। इस प्रकार यह मत कान्ट के मत के विपरीत है, क्योंकि वहाँ भावना के लिये जरा भी स्थान नहीं।

(६) यह हार्दिक आनन्द केवल नैतिक आचरण के लिये आवश्यक ही नहीं बल्कि प्रो० सेठ के अनुसार तो यही नैतिक विकास का सूचक है (Index of moral progress)। यह सम्भव है कि हम प्रारम्भ में बिना किसी भावना के अनुकरण मात्र के लिये नैतिक आचरण करें, पर बाद में हमें इसमें काफी आनन्द प्राप्त होता है। हमारी नैतिक चेतना जितना अधिक विकसित होती है हमें उतना ही अधिक आनन्द नैतिक आचरण से प्राप्त होता है और एक समय ऐसा आता है जब हम केवल इस आनन्द के लिये नैतिकता के नाम पर अपनी बलि देने को भी प्रस्तुत हो जाते हैं। इसीलिये यह सन्तोष की भावना Index of moral progress भी है।

अब इन सभी बातों पर ध्यान देने से यह पता चलता है कि वास्तव में इस सिद्धान्त में सभी एकांगी सिद्धान्तों का समन्वय हो जाता है। इसमें सुखवाद की तरह भावना अथवा आन्तरिक आनन्द को स्थान दिया जाता है और जीवन के एक अंग के रूप मे इन्द्रियों के साथ भी न्याय किया जाता है। लेकिन इस इन्द्रिय सुख का नियंत्रण क्रमिक रूप से विवेक के द्वारा होना चाहिये, इस तरह इसमें कान्त के बुद्धिवाद का भी अंश है। इसी प्रकार इसमें स्वार्थ (ego) और परमार्थ (Altruism) दोनों के लिये ही स्थान है। अत हम कह सकते हैं कि पूर्णतावाद में सभी विरोधी भावनाओं का उचित समन्वय हो जाता है।

पूर्णतावाद की धारणायें ये हैं: Be a person; die to live इत्यादि। इनका अर्थ होता है कि मनुष्य को व्यक्तित्व का विकास करना चाहिये अथवा मानव को अपने अधम अंग का दमन कर विवेक द्वारा निर्देशित होना चाहिये इत्यादि।

लेकिन हम यह देख सकते हैं कि इन सब गुणों के बावजूद यह पूर्णतया दोषरहित ही नहीं है।

आत्मोपलब्धि अथवा पूर्णता की प्राप्ति कोई ऐसी ठोस वस्तु नहीं जिसे अपनी इच्छानुसार प्राप्त किया जा सके। जमाने से दार्शनिकों ने इस बात की चर्चा की है लेकिन यह विचार ही इतना गहन और सूक्ष्म (Subtle or abstract) है कि जनसाधारण को इस आदर्श को समझना भी कठिन जान पड़ता है। और जो ऐसी गूढ़ बात है जो समझ में भी मुश्किल से आती है, उसे आदर्श मानकर विश्व में जीवन-यापन करना कितना कठिन हो सकता है यह आसानी से समझा जा सकता है।

वास्तव में देखा जाय तो इस सिद्धान्त में मानसिक प्रवृत्तियों के समन्वय पर ही विशेष जोर डाला जाता है, पर समन्वय ही तो हमारा मापदण्ड नहीं हो सकता। हमें तो उचित-अनुचित का निर्णय करना पड़ता है। कभी तो हम यह भी पाते हैं कि समन्वय से काम नहीं चलता, वल्कि हमें निम्न प्रवृत्तियों को ऊँचा उठाना पड़ता है। 'Die to live' में हमें निम्न प्रवृत्तियों का नाश कर विवेक का जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी जाती है, लेकिन यह तो कान्ट के बुद्धिवाद से अधिक भिन्न नहीं है।

सच पूछा जाय तो पूर्णतावाद कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है, इसमें हम एक प्रकार की खिचड़ी पाते हैं जिसमें सब स्वाद है फिर भी निश्चित रूप में कुछ नहीं। पूर्णतावाद हमें स्पष्ट रूप में कुछ बताने में असमर्थ साबित होता है। पूर्णता तो एकदम ही अस्पष्ट वस्तु है और इसीलिये इसमें हमें कुछ स्पष्ट सीखने को नहीं मिलता।

लेकिन हम कह सकते हैं कि इन सब दोषों के होते हुए भी पूर्णतावाद ही नैतिकता का सबसे सन्तोषप्रद आदर्श उपस्थित करता है, क्योंकि इसमें विरोधी भावनाओं का सामंजस्य हो जाता है और सम्पूर्ण जीवन के प्रति न्याय होता है। इसमें कम से कम एकांगीपन का दोष तो नहीं ही है।

Q. 16. Give a classification of virtues and duties according to Indian Ethics.

भारतीय आचार-शास्त्र मे केवल नैतिकता अथवा आचरण का आदर्श ही नहीं उपस्थित किया जाता, वल्कि उसकी प्राप्ति के साधनों का भी निर्देश किया

जाता है। इसी दृष्टि से यहाँ के आचार्यों ने हमारे लिये सद्गुणों का भी स्पष्ट संकेत कर दिया है। ये सद्गुण संख्या में पाँच माने जाते हैं सत्य, अस्तेय, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। इनमें से हमें एक-एक की व्याख्या करनी है।

सत्य (Truth) हमारे दर्शन और शास्त्रों में सत्य का स्थान बहुत ऊँचा है। सत्य को वह अमोघ अस्त्र समझा जाता है जिसका कभी पराजय नहीं होता। कहा गया है 'सत्यमेव जयते'। प्रत्येक परिस्थित में सत्य का पालन करना ही हमारा आदर्श होना चाहिये। किसी भी विपत्ति अथवा कष्टमय स्थिति में सत्य से विचलित होना हमारे लिये शोभनीय नहीं।

लेकिन प्रश्न उठता है कि सत्य है क्या? योग दर्शन में इसकी परिभाषा इस प्रकार दी जाती है। मन सहित वाणी के यथार्थ कथन का नाम सत्य है। पूरा देख-भाल, सोच-समझकर सभी बातों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करना ही सत्य है। यदि हम किसी बात को जानते हैं तो हमें ठीक उसी रूप में प्रकट करना चाहिये। किसी प्रकार के वाग्जाल अथवा चातुर्य के कारण सत्य पर पर्दा डालना उचित नहीं। केवल सत्य बोलना ही आवश्यक नहीं, यह भी जरूरी है कि हम इस चीज को जिस रूप में देखते हैं, उसी रूप में सुननेवाले भी इसे समझें।

लेकिन सत्य भाषण के लिये एक और वस्तु की आवश्यकता है। सत्य बोलना ठीक है किन्तु सत्य कभी अप्रिय नहीं होना चाहिये। सत्य होकर भी यदि कोई बात अप्रिय हो तो उसे न बोलना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि ऐसे सत्य में हिंसा का अंश होता है। अप्रिय सत्य से लोगों को कष्ट होता है। अतः इस सत्य को न बोलना अनुचित नहीं है।

सत्य का अर्थ केवल सत्य बोलना ही नहीं है। मनसा, वाचा कर्मणा अथवा मन, वचन, कर्म किसी से भी असत्य को प्रश्रय देना ठीक नहीं। हम असत्य बातों को मन में भी स्थान न दें।

लेकिन सत्य बोलने के अपवाद भी होते हैं। खास परिस्थित में सत्य पर पर्दा डालना भी आवश्यक हो जाता है और ऐसे असत्य को अनैतिक नहीं माना जाता। यदि किसी के घर में चोर आ जाय तो उस समय सम्पत्ति को छुपाना अनैतिक नहीं माना जाता। बल्कि यही उचित भी है।

अहिंसा (Non-voilence) अहिंसा का तो हमारी परम्परा में सदा ही से अत्यधिक महत्त्व रहा है। अहिंसा से बढ़कर दूसरा कोई धर्म ही नहीं है अहिंसा परमो धर्मः। आधुनिक समय में महात्मा गाधी ने अहिंसा के महत्त्व को पुनः प्रमाणित कर दिखाया है। पुराने जमाने से लेकर आजतक के मनीषियों ने अहिंसा का महत्त्व समझा और माना है।

अहिंसा का अर्थ होता है हिंसा नहीं करना। इस प्रकार यह एक निषेधात्मक गुण माना जाता है, किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं। अहिंसा तो एकदम सम्पूर्ण रूप से भावात्मक (Positive) गुण है जिसे हम बाद में देखेंगे। अहिंसा का वास्तविक आधार है कि सभी प्राणियों की आत्मा एक समान है और इसीलिये हम जिस प्रकार अपनी आत्मा को देखते हैं उसी दृष्टि से दूसरों को भी देखना चाहिये। इसीलिये किसी जीवधारी की हिंसा करना अन्याय है। लेकिन हिंसा का अर्थ केवल जान मारना ही नहीं होता है, किसी प्रकार से दूसरे की आत्मा को कष्ट देना हिंसा ही कहलायगा। वास्तव में अहिंसा पारस्परिक सद्भावना के सिद्धान्त पर आधारित है। हम जैसा व्यवहार दूसरों के साथ करेंगे, वैसे ही व्यवहार की हमें आशा भी रखनी चाहिये। अतः कम से कम अपने ही हित के लिये यह आवश्यक है कि हम दूसरों के साथ सद्भावना का आचरण करें। सही रूप में तो अहिंसा का अर्थ यहाँ तक होता है कि हम दूसरों के प्रति घृणा, ईर्ष्या, आदि का भाव भी न रखे। अपने विचारों, वचन अथवा कर्म-किसी से किसी दूसरे के हृदय पर ठेस पहुँचाना हिंसा के अन्दर गिना जायगा।

अहिंसा केवल व्यक्तिगत आचरण का ही आदर्श नहीं; वल्कि सामाजिक कल्याण का भी मूलमंत्र है। यदि समाज में हम अहिंसा के सिद्धान्त का अनुसरण करें तो समाज की उन्नति और कल्याण अवश्यम्भावी है। इस बात को महात्मा गाधी ने प्रमाणित कर दिखाया है। उन्होंने अहिंसा का प्रयोग केवल व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं, वल्कि अन्तर्राष्ट्रीय बातों में करने की प्रेरणा दी और आज की हमारी वैदेशिक नीति भी अहिंसा पर ही आधारित समझी जाती है। लेकिन अहिंसा के पालन के लिये महान साधना की आवश्यकता है क्योंकि यह अत्यन्त ही कठिन है। इसके लिये जरूरी है कि हम लोभ, ईर्ष्या, घृणा आदि का भी त्याग कर दें

और सदाचारी बने रहें। यह सम्भव नही कि एक ओर तो हम अहिंसक बने रहें और दूसरी ओर व्यभिचार और दुष्कर्म में लगे रहें। सही अर्थों में अहिंसा का पालन करना सचमुच ही महान धर्म है।

अस्तेय (Non-stealing) किसी दूसरे के धन को ले लेने अथवा चोरी करने को 'स्तेय' कहा जाता है। अतः अस्तेय का अर्थ होगा चोरी नही करना या दूसरे का धन नहीं लेना।

इसका कारण यह है कि हमारे समाज मे बराबर से मनुष्य की निजी सम्पत्ति का महत्व समझा जाता रहा है। हम जानते हैं कि मनुष्य का कोई भी कार्य बिना सम्पत्ति के नहीं हो सकता। अतः यदि दूसरों का धन हम हड़प लेते हैं तो उसे किसी प्रकार का कष्ट आवश्य होगा और इस तरह हमसे हिंसा हो जायगी। अतः आवश्यक है कि हम अपनी ही सम्पत्ति से सम्बन्ध रखें और व्यर्थ का लोभ न करें। उपनिषद् में भी कहा गया है :

"ईशावास्यमिदं सर्वम् यत्किञ्चजगत्याजगत्
तेनत्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्या स्विद्धनम्"

दूसरी बात यह है कि यदि इस प्रकार हम एक दूसरे का धन ले लेने की चेष्टा करेंगे और यदि सभी इसी प्रकार करना शुरू कर दें तो मनुष्य की शान्ति ही समाप्त हो जायगी और समाज में हाहाकार मच जायगा। इसलिये समाज में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये भी अस्तेय का अभ्यास आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य (Celebacy) ब्रह्मचर्य को हमारे यहाँ महान शक्ति का स्रोत और स्तम्भ माना गया है। यह एक ऐसा सद्गुण है जिसके अभ्यास से मनुष्य के अन्दर अभूतपूर्व शक्ति का उदय होता है।

ब्रह्मचारी का अर्थ होता है वह जो इन्द्रियों का निग्रह कर ब्रह्म की आराधना में तल्लीन हो गया है। इस प्रकार इसका मतलब केवल काम क्रिया (Sex-activity) का ही त्याग नहीं है बल्कि सभी प्रकार के इन्द्रिय सुख का वर्जन करना आवश्यक है। सभी प्रकार की इन्द्रियों का दमन करना आवश्यक है।

केवल यही नहीं। हमें अपने मन में भी कभी इन्द्रिय सुख का विचार लाना उचित नहीं। इस प्रकार केवल व्यवहार ही में नहीं, वरन् ध्यान, कर्म,

स्पर्श, क्रीड़ा, दर्शन, एकान्तवास आदि सभी में ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। अतः सबसे पहले इन्द्रियों को वश में लाना आवश्यक है। विवाहित अवस्था में भी ब्रह्मचर्य का पालन हो सकता है, लेकिन एक विशेष अर्थ में। इसका मतलब होता है कि पति-पत्नी अपनी कामेच्छा पर नियंत्रण करें और संयम से काम लें। पाशविक ढंग से सम्भोग में निलिप्त हो जाना मनुष्य के लिये शोभनीय नहीं अतः यहाँ भी दमन की आवश्यकता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य के भी विभिन्न रूप हैं।

अपरिग्रह (Non-attachment) इसका अर्थ होता है सभी प्रकार की आसक्ति अथवा संग्रह से विरक्ति। यदि हम वास्तव में अपनी इन्द्रिय जन्य सुखों और सुखप्रद वस्तुओं की उपलब्धि में तल्लीन रहेंगे तो हमारे लिये किसी प्रकार का धर्माचरण सम्भव नहीं। अत भौतिक सम्पति के प्रति, उदासीनता के भाव को हम अपरिग्रह कहेंगे।

आसक्ति के कारण ही हम सांसारिक मायामोह में फँसे रहते हैं और इन्हीं के कारण हमें चरम पुरुषार्थ-मोक्ष-की प्राप्ति में बाधाओं का सामना करना पड़ता है। जब तक हम अनासक्ति का पाठ नहीं सीखते हमें नैतिकता का उत्कर्ष समझ में नहीं आ सकता।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार तो सभी प्रकार के स्वामित्व से मुक्त होना ही आसक्ति का लक्षण है। स्वामित्व की भावना से हृदय में मेरा-तेरा की संज्ञा होती है है और इसके कारण हमें अनेक झंझटें उठानी पड़ती हैं। यदि हम अपनी प्रिय वस्तुओं में आसक्त न रहें तो हमें अभावजनित क्लेश का अनुभव नहीं हो सकता। इस प्रकार हम क्लेश के एक प्रधान कारण से मुक्ति पा जाते हैं।

किन्तु यदि हम इतना न भी मानें तो कम से कम यह आवश्यक है कि हम अपनी अधिकार-भावना के गुलाम होकर मेरा-मेरा की रट न लगाते फिरें। ऐसा होने से नैतिक आचरण असम्भव हो जायगा क्योंकि उसमें त्याग और बलिदानकी भी आवश्यकता होती है।

PART II
SOCIAL PHILOSOPHY
समाज दर्शन

Q. 1. Explain whether society is a natural and essential growth or just an accidental product.

समाज-दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण और आधारभूत प्रश्न है कि क्या समाज की उत्पत्ति स्वाभाविक और आवश्यक है अथवा यह केवल संयोगवश हो गई है। हम देखते हैं कि विश्व में जहाँ-जहाँ मनुष्य हैं अथवा पशु भी हैं वहाँ किसी न किसी प्रकार का समाज अथवा वर्ग अवश्य ही है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के लिये प्रत्येक अवस्था में समाज का होना आवश्यक है। किन्तु कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि समाज की ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है। कम से कम यह मनुष्य के स्वभाव में निहित कोई आधारभूत तथ्य नहीं है। अतः सबसे पहले इस समस्या की ओर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है।

आगे चलकर हम देखेंगे कि कुछ सिद्धान्त इस प्रकार के हैं जिनके अनुसार समाज केवल एक कृत्रिम संस्था है और यदि मनुष्य चाहे तो इसके बिना भी रह सकता है। यह हमारे प्राकृतिक गुणों में निहित नहीं है कि हम एक समाज का निर्माण अवश्य करें क्योंकि मनुष्य तो हर हालत में अकेले ही, केवल अपने गुण-अवगुण और संस्कारों के साथ पैदा होता है। फिर समाज की क्या आवश्यकता?

लेकिन मनुष्य के स्वभाव का विश्लेषण करने पर हमें पता चलता है कि किसी न किसी प्रकार का बाह्य सम्बन्ध मनुष्य के लिये स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि आवश्यक भी है। वह इसके बिना रह ही नहीं सकता। यह मानव स्वभाव में

ही एक आवश्यक गुण के रूप में है कि वह अपने से परे किसी दूसरे व्यक्ति अथवा संस्था से अपना सम्बन्ध स्थापित करे। इसे पूरी तरह समझने के लिये हमें मानव जीवन का विश्लेषण करके देखना है।

विकासवाद (Evolutionism) के अनुसार मनुष्य की उत्पत्ति एकाएक शून्य में से नहीं हुई है। विश्व के प्रारम्भिक भौतिक रूप से उसका क्रमिक विकास हुआ है। एक समय था जब विश्व में केवल पेड़-पौधे थे और जीवन (life) उन्हीं मे पाया जाता था। फिर विकास के फलस्वरूप पशुओं का अविर्भाव हुआ और अन्त में हजारों वर्षों के उपरान्त मनुष्य की उत्पत्ति हुई है। अब, यद्यपि मनुष्य पौधों और पशुओं से काफी भिन्न है, तथापि संस्कारों के रूप में इन सब के कुछ न कुछ गुण मनुष्य में वर्त्तमान हैं। इसी कारण मानव-जीवन अथवा उसकी प्रवृतियों के विभिन्न पहलु हैं। उन्हे हम प्रधानतः तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) सर्वप्रथम पेड़-पौधों (Vegetables or plants) से लिये गये संस्कार (Tde vegetative aspect)

(२) पशुओं से प्राप्त संस्कार (The animal aspect), और अन्त में (३) मानवीय गुण (The human aspect)।

अब हम तीनों की अलग-अलग व्याख्या करके देखें कि इनके अनुसार किसी प्रकार का बाह्य सम्बन्ध (Association) स्वाभाविक है अथवा नहीं।

पेड़-पौधों के जीवन-क्रम से हमें अपने अन्वेषण के विषय में महत्वपूर्ण तथ्य नहीं मिलते। उनका जीवन इस प्रकार निष्क्रिय और परतन्त्र होता है कि उनमें समाज-निर्माण के अकुर खोजना आसान नहीं। फिर भी हम इतना तो अवश्य पाते हैं कि उनमें भी उत्पादन अथवा जनन की प्रक्रिया होती है और इसके लिये एक से अधिक जीवकोषों के सहयोग की आवश्यकता होती है। यह बात और भी स्पष्ट रूप में देखने में आती है जब हम यह पाते हैं कि पौधे भी सामुदायिक रूप में उगते और पनपते हैं। अतः इन सब में बाह्य सम्बन्ध की आवश्यकता होगी ही।

किन्तु इस विषय पर और अधिक प्रकाश मिलता है तब, जब हम पशुओं के जीवन पर दृष्टिपात करते हैं। पशुओं की जनन क्रिया (reproduction) के लिये हम १९५८ ७५ में पाते हैं कि एक नर और एक मादा पशु की आवश्यकता होती है। इन दोनों के सम्बन्ध के बिना कोई उत्पादन सम्भव नहीं।

इसके बाद भी जब बच्चे पैदा हो जाते हैं तो उनके पालन-पोषण के लिये और संरक्षण के लिये माता-पिता के परस्पर सहयोग की जरूरत होती है। जब तक बच्चे आत्मनिर्भर नहीं हो जाते हैं और स्वयं अपने से अपना पेट पालने में समर्थ नहीं हो जाते तब तक इनके संरक्षण का भार माता-पिता पर होता है। इस लिये एक प्रकार की स्वाभाविक-सम्बन्ध की स्थापना होती है।

इनके अतिरिक्त भी और कुछ बातें हैं। हमें मालूम है कि कुछ पशु ऐसे हैं जो अन्य पशुओं को खाकर ही जीवन-यापन करते हैं, जैसे बाघ, सिंह, भेड़िया। यह बात बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके कारण किसी न किसी प्रकार सहयोग और पारस्परिक सम्बन्ध अनिवार्य हो जाता है। अपने संरक्षण के लिये कुछ पशुओं का आपस में मिलकर बाहरी हमले का मुकाबला करना जरूरी होता है। दूसरी ओर, जो हमला करनेवाले पशु होते हैं वे भी एक साथ मिलकर हमला करना पसन्द करते हैं, क्योंकि इससे उनकी शक्ति में वृद्धि होती है और इस प्रकार शिकार फँसाना आसान हो जाता है।

यह स्वाभाविक है कि आपत्ति के समय पशु हिल-मिलकर रहें। दूसरी जाति के पशुओं से लड़ने-भिड़ने के लिये जितना आपसी मेल बढ़ता है, उतना शायद और किसी अवस्था में नहीं। और सबसे बड़ी बात तो है कि इनमे भी प्रेम और भाईचारे की भावना होती है। इन जन्मजात संस्कारों (Instincts) के कारण जैसे प्रेम अथवा संघर्ष, आपसी मेलजोल बढ़ता है और आपस में सम्बन्ध स्थापित होते हैं। इस प्रकार पाशविक वृतियों में ही कुछ वृतियाँ ऐसी हैं जिनके कारण दो अथवा अधिक पशुओं या मनुष्यों का आपसी सम्बन्ध स्वाभाविक हो जाता है।

इन सब के अतिरिक्त मानव के अपने कुछ निजी गुण भी हैं जो सहयोग अथवा सम्बन्ध में सहायक होते हैं। पहली बात तो यह है कि मनुष्य विवेकशील

हैं। और विवेक का अनिवार्य लक्षण है कि वह लोगों को मिलाये और उनके बीच सहयोग और पारस्परिक प्रेम को विकसित करे। विवेक के कारण हम में दया, सहानुभूति उत्साह आदि गुणों का उदय होता है और इनके कारण हम स्वभावतः अपनी जाति के दूसरे सदस्यों के नजदीक आते हैं। दूसरी बात यह भी है कि मानव की निजी सम्पतियों में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वस्तु है उसकी भाषा। मानव को भाषा के प्रयोग करने की शक्ति है और यह प्रयोग विना एक से अधिक मनुष्यों क हो ही नहीं सकता।। भाषा का होना ही यह प्रमाणित कर देता है कि मनुष्यों का आपसी सम्बन्ध (association) स्वाभाविक है।

और समाज इसी प्रकार के सम्बन्ध (association) का एक विशेष रूप है, अतः वह भी स्वाभाविक और आवश्यक है।

Q. 2. How would you reconcile the cialms of the rival theoies of Iudividualism and socialism with-reference to the relationship of the society and the individual ?

हम जानते हैं कि व्यक्ति और समाज दोनों काही अस्तित्व वास्तविक और अर्थपूर्ण है। समाज मनुष्य के लिये स्वाभाविक है और उसके अपने गुणों के कारण ही सहज रूप से समाज की स्थापना हो जाती है। लेकिन इसके वाद भी एक दूसरा महत्त्वपूर्ण रह जाता है। वह प्रश्न यह है कि व्यक्ति और समाज में कौन अधिक महत्वपूर्ण है अथवा दूसरे शब्दों में कौन किसके लिये है? व्यक्ति के लिये समाज है अथवा समाज के लिये व्यक्ति? इन दोनों में कौन आधारभूत (primary) है? यदि व्यक्ति अधिक महत्वपूर्ण है तो उसे सर्वथा स्वतन्त्र रहना चाहिये और समाज का वन्धन उस पर अनिवार्य रूप से न रहे, समाज के कल्याण की उसे कोई पावन्दी नहीं। इसके विपरीत यदि समाज आधारभूत है तो व्यक्ति का अस्तित्व कुछ नहीं, उसकी अपनी जरूरतें, उसकी इच्छायें और सुख दुख एकदम ही नगण्य हैं। अव हमें देखना है कि इन दोनों विचारों में कौन सा अधिक युक्तिसंगत है और यदि दोनों ही त्रुटिपूर्ण हैं तो तीसरा क्या रास्ता है? समाज और व्यक्ति के वीच कौन सा सम्बन्ध उचित है?

व्यक्तिवाद (Individualism) जो लोग व्यक्ति की स्वतन्त्रता और महत्ता को प्रधान मानते हैं उन्हें हम व्यक्ति वादी (Individualists) कहते हैं और इस सिद्धान्त को व्यक्तिवाद (Individualism)। इस मत के माननेवाले हैं रूसो, हौब्स, लॉक इत्यादि। ये लोग समाज के निर्माण की यान्त्रिक व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि व्यक्ति प्रधान है। समाज तो एक परवर्ती और यंत्रवत् ढाँचा-मात्र है।

इनके अनुसार एक समय ऐसा था जब लोग स्वतन्त्र रूप से रहते थे और समाज अथवा समुदाय नाम की कोई चीज नहीं थी। लेकिन इस हालत में प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकारों और स्वार्थों की ही बात सोचता था और उसी की प्राप्ति में संलग्न रहता था। लेकिन इस कारण हमेशा ही एक दूसरे से मार-पीट और अनबन हो जाया करती है। संघर्ष और अनबन की इस अवस्था को वे आदिम अवस्था (State of nature) कहते हैं।

कुछ दिनों के पश्चात लोगों ने यह अनुभव किया कि यदि हम सब मिलकर आपस में एक सन्धि अथवा समझौता कर लें तो शायद इतनी अनबन न हो। इस कारण लोगों ने एक समझौता किया कि हम एक हद तक दूसरों के अधिकारों का भी ख्याल करें और सभी मिलकर एक संस्था की स्थापना करें जो हम सभी के स्वार्थों की रक्षा करे। इस प्रकार समाज की स्थापना हुई। इसे (Social contract) का सिद्धान्त कहा जाता है।

इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज की उत्पत्ति एकदम यान्त्रिक (Mechanical) है और लोगों ने अपने स्वार्थ साधन में आसानी के ख्याल से ही समाज का निर्माण किया है। समाज को कुछ अधिकार दे दिये गये हैं, लेकिन इनके बावजूद व्यक्ति स्वतन्त्र है और उसकी अपनी अलग सत्ता है। इस प्रकार समाज कृत्रिम है और व्यक्ति की महत्ता मौलिक है।

लेकिन यह सिद्धान्त ऐतिहासिक तथ्यों से पूर्ण प्रमाणित नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त इस में स्वयं यह बात भी निहित है कि व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्रता का स्वामी नहीं हो सकता। क्योंकि इससे पुन हम उस प्रारम्भिक अवस्था (State of nature) में पहुँच जायँगे और हमारा जीवन दुरुह हो जायगा।

समाजवाद (Socialism or collectivism) यह सिद्धान्त व्यक्तिवाद का विरोधी है और इसके अनुसार समाज ही मौलिक और आधारभूत है। व्यक्ति को अपनी सत्ता का पूर्ण रूप से समाज में विलयन कर देना चाहिये। इस मत के माननेवाले हैं कतिपय साम्यवादी विचारक-यथा मार्क्स, लेनिन इत्यादि और अन्य विचारक भी जैसे लेस्ली स्टीफेन आदि।

इनका कहना है कि समाज वास्तव में एकदम ही स्वाभाविक और आवश्यक है। समाज के बिना हम रह ही नहीं सकते। मनुष्य अनिवार्यतः सामाजिक प्राणी है और किसी न किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था उसके विकास और उत्कर्ष के लिये आवश्यक है। यदि ऐसी बात न भी हो, और थोड़ी देर के लिये यह मान भी लिया जाय कि समाज एक कृत्रिम संस्था है तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता।

समाज की बनावट चाहे जिस प्रकार हुई हो, पर एकबार जब इसकी स्थापना हो जाती है तो यही सर्वाधिक महत्व का हो जाता है। इसकी अपनी अलग सत्ता हो जाती है और यह सब के सिर का मुकुट बन जाता है। इसके पश्चात बिना समाज की सहमति के उसका कोई भी कार्य नहीं होता और न हो ही सकता है।

मनुष्य हमेशा समाज ही में रहता है और समाज से अलग उसका कोई अस्तित्व ही नहीं। उसका सारा आचरण सामाजिक नियमों और रिवाजों की पृष्ठभूमि पर होता है। वह कभी भी समाज से विमुख होकर कोई कार्य नहीं कर सकता और यदि वह ऐसी हिमाकत करता है तो उसकी क्या हालत होती है उसे हम खूब जानते हैं। समाज से बहिष्कृत किसी व्यक्ति का जीवन कितना संकटमय होता है यह कोई रहस्य नहीं, इसे सभी जानते हैं।

इसके अतिरिक्त हम जानते हैं कि व्यक्ति को यदि पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय और उसे अपने ही पर छोड़ दिया जाय, यदि उसके नियन्त्रण के लिये कोई सामाजिक व्यवस्था न रहे, तो मनुष्य आपस में लड़-कट कर समाप्त हो जायगा और फिर वह सभ्यता की सबसे निचली सीढ़ी (State of nature) में पहुँच जायगा।

इन सब बातों के ख्याल से यह आवश्यक है कि व्यक्ति का सम्पूर्ण नियंत्रण समाज के हाथ में अथवा समाज द्वारा निर्मित किसी दूसरी संस्था के हाथ में रहे। व्यक्ति को इन नियमों और निर्देशों की अवहेलना करने का कोई हक न रहे और यदि वह ऐसा करे तो उसे कठोर दंड दिया जाय। वह अपनी सत्ता को समाज में मिला दे और उसके एक साधारण अंश की तरह अपनी शक्ति भर परिश्रम कर समाज के कल्याण में योग दे। इस सिद्धान्त का पूर्ण रूप से प्रयोग शायद रूस और चीन जैसे साम्यवादी देशों में होता है जहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता नगण्य है।

लेकिन यह मत भी बहुत सन्तोषजनक नहीं प्रतीत होता। समाज का अधिकार व्यक्ति पर होता है यह सही है। हमारा अनुभव हमें यही बताता है, लेकिन यह अधिकार और नियन्त्रण इतना अधिक नहीं होना चाहिये जिसमें व्यक्ति की सत्ता ऐक बड़ी मशीन के पुर्जे (a cog in the wheel) की तरह हो। आखिर मनुष्य तो मनुष्य ही है, उसे हम मशीन नहीं बना सकते। हमें उसके विचारों, भावनाओं और संवेदनाओं का ख्याल करना ही पड़ेगा। समाजवादी सिद्धान्त में मनुष्य एक भावुक प्राणी न रहकर सूखी लकड़ी का एक टुकड़ा हो जाता है। इस प्रकार व्यक्तिवाद और समाजवाद दोनों हो एकांगी मत हैं और दोनों का समन्वय करना आवश्यक हो जाता है।

समन्वय (organic theory) यह समन्वय होता है उस सिद्धान्त में जिसके अनुसार व्यक्ति और समाज में अंग और अंगी का सम्बन्ध (organic relation), है। इसके अनुसार व्यक्ति और समाज दोनों ही यथार्थ और आवश्यक हैं। दोनों ही एक दूसरे के लिये अनिवार्य हैं और आपसी सम्बन्ध के बिना दोनों में से किसी का अस्तित्व सम्भव नहीं।

समाज का होना अनिवार्य है। क्योंकि इसके अभाव में मनुष्य का जीवन कष्टमय हो जाता है। सभी व्यक्तियों के हित साधन के लिये समाज एकमात्र अस्त्र है। यदि व्यक्ति की स्वार्थमयी इच्छाओं का नियन्त्रण समाज से न हो तो किसी का भी सुखसाधन नहीं हो सकता इसलिये समाज महत्वपूर्ण है।

उसी प्रकार व्यक्ति का भी महत्त्व है, क्योंकि व्यक्तियों के अभाव में समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। मनुष्य, भावुक जीव है और उसे अपनी भावनाओं और इच्छाओं की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता अवश्य होनी चाहिये।

जिस प्रकार शरीर और उसके विभिन्न अगों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है, अर्थात् एक दूसरे के विना नहीं रह सकता, उसी प्रकार समाज और व्यक्ति भी सम्बन्धित हैं। स्पिनोज़ा, केयर्ड, मैकेन्जी आदि का यह आदर्शवादी मत है सबसे युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

Q. 3. What is the essential feature and basis of a family ? Also describe, in this connection, the various functions of a family.

सामाजिक संस्थाओं में सबसे मौलिक और आधारभूत संस्था परिवार है। यह सबसे सरल तथा स्वाभाविक संस्था है, क्योंकि इसका विकास मनुष्य की सबसे आरम्भिक आवश्यकता से होता है और वह है बच्चों का भरन-पोषण। लेकिन सरल होने पर भी सभी अन्य सामाजिक संस्थाओं की सृष्टि में परिवार का थोड़ा-बहुत हाथ अवश्य ही होता है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि परिवार किसे कहते हैं? अथवा परिवार के लिये सबसे आवश्यक वस्तु क्या है। हिन्दू समाज में तो बड़े-बड़े सम्मिलित परिवारों की परिपाटी है। अत: वहाँ परिवार की परिभाषा करना कठिन है। किन्तु साधारण परिवारों को देखकर भी हमें कभी-कभी भ्रम होता है। लोग सोच सकते हैं कि परिवार की उत्पत्ति एक पुरुष और एक स्त्री के वैवाहिक सम्बन्ध मात्र से हो जाता है। इसलिये परिवार के लिये केवल एक वयस्क पुरुष और एक स्त्री की आवश्यकता है। कभी-कभी तो लोग यह भी सोचते हैं कि केवल पुरुष ही अनिवार्य है, क्योंकि उसके होने से अनेक स्त्रियों का सम्बन्ध परिवार से हो सकता है।

फिर कभी-कभी ऐसा भी सोचा जाता है कि कुछ स्त्री-पुरुष मिलकर एक घर के अधिकारी हो जाँय और इस प्रकार वह घर तथा वे स्त्री-पुरुष मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं। पर ये सभी भ्रामक धारणायें हैं। वास्तव में स्त्री-पुरुषका

विवाह और घर बसाना इसीलिये आवश्यक है कि उन्हें सन्तानोत्पत्ति की आशा रहती है। और यह एक अद्भुत बात है कि सब पशुओं में श्रेष्ठ होने पर भी मनुष्य के बच्चे और दूसरों की अपेक्षा सबसे अधिक असमर्थ और परावलम्बी होते हैं। इसी कारण उस बच्चे की शिक्षा-दीक्षा के लिये ही परिवार की जरूरत होती है। इसलिये वास्तव में परिवार के लिये सबसे आवश्यक वस्तु है एक बच्चे का होना। अतः उसे ही परिवार का केन्द्र (centre) माना जाता है।

इस बात को समझ लेने पर शायद इसमें जरा भी सन्देह नहीं रह जाता कि परिवार का विकास स्वाभाविक और अनिवार्य है। इसमें कहीं सन्देह की गुंजाइश नहीं। हम जानते हैं कि विवाहित पुरुष और स्त्री के साथ रहने में बच्चों का होना आवश्यक औ स्वाभाविक है। और जब बच्चे होते हैं तो उनकी देख-भाल करना भी कम आवश्यक नहीं, क्योंकि बच्चे एकदम ही लाचार होते हैं। अब हम देखते हैं कि इनमें से सभी बातें स्वाभाविक हैं जैसे विवाह, बच्चे का होना और उसकी असमर्थता आदि। इसलिये परिवार भी स्वाभाविक और प्राकृतिक है। इसके आधार के विषय में शंका करना शोभनीय नहीं।

लेकिन अंगरेजी शब्द Family के अर्थ के कारण कभी-कभी इसमें अबोध और अज्ञ लोग शंका करते हैं। Family शब्द रोमन Famulus अथवा Familia से निकला है जिसका अर्थ मध्यवर्त्ती युग में होता था गुलामों अथवा दासों का समुदाय जो किसी घर के काम-काज करते हों। बाद में धीरे-धीरे Family से पूरे परिवार का बोध होने लगा और कभी-कभी यह भ्रम भी होता था कि जिस प्रकार उन दासों पर परिवार के मुखिया अथवा प्रधान सदस्य का पूरा अधिकार होता था, शायद वही बात परिवार के सदस्यों के सम्बन्ध में भी सही हो। जैसे वह मुखिया अपने दासों को बेच और खरीद सकता था उसी प्रकार परिवार के सदस्यों को भी खरीदा-बेचा जा सकता है यह धारणा भी फैलने लगी। इसी कारण कभी-कभी यह प्रश्न भी उठता है कि यदि मुखिया चाहे, तो क्या परिवार का अन्त कर सकता है? और यदि यह बात हो तब तो परिवार स्वाभाविक नहीं रहेगा।

इस प्रकार परिवार के स्वाभाविक होने में कभी-कभी शंका उपस्थित होती है। लेकिन यह शंका निराधार है, क्योंकि हम जानते है कि परिवार का वास्तविक केन्द्र तो बच्चा है, न कि और कोई। जबतक बच्चे की प्रधानता को हम परिवार में मानते हैं और जबतक बच्चे की असमर्थता की बात सही है तबतक परिवार का अन्त सम्भव नहीं और इसे स्वाभाविक मानना ही होगा। बच्चों को पाल-पोष कर उन्हें बृहत् समुदाय अथवा समाज में अपनी योग्यतानुसार हाथ बँटाने और अपनी जवाबदेही संहालने के लिये तैयार करना आवश्यक है। यही परिवार का वास्तविक आधार है।

कुछ उदाहरणों में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि परिवार के लिये बच्चा महत्व पूर्ण नहीं है, बल्कि स्त्री-पुरुष का प्रेम। लेकिन ऐसे प्रेम का भी अन्तिम लक्ष्य और फल होता है संतान अथवा बच्चे। यदि यह बात न हो तो भाई-बहन के प्रेमपूर्वक जीवन-यापन को भी हम परिवार की संज्ञा दे सकते थे। लेकिन हम ऐसा नहीं करते। दूसरे प्रकार के सम्बन्धों से विवाह की भिन्नता इसी अर्थ में है कि उसमें बच्चे होने की आशा रहती है जिनकी देख-भाल करना जरूरी होता है।

परिवार की तुलना अक्सर एक राज्य से की जाती है। अब यदि परिवार राज्य है तो बच्चा इसका मुकुटधारी शाहंशाह और परिवार के अन्य सदस्य एक प्रकार से उसके मंत्रीगण की तरह है जो विभिन्न कार्यों की देखरेख कर राजा की सहायता करते हैं। इन सब बातों के ख्याल से यह कहना गलत नहीं हैं कि परिवार का आधार स्वाभाविक—(natural) हैं।

परिवार के कार्य (functions of the family) ऊपर के विवेचन से परिवार की आवश्यकता और उसके महत्व की बात बहुत कुछ स्पष्ट हो गई होगी। अब हम एक-एक कर देखें कि परिवार के कार्य क्या-क्या हैं।

हम जानते हैं कि परिवार का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है बच्चे का पालन-पोषण और उसकी देख-रेख। बच्चे को शरीर, उसके स्वास्थ्य और उसके जीवन की रक्षा करना ही सबसे आवश्यक कार्य है। इसे हम परिवार का रक्षात्मक अथवा पोषक कार्य (Protective or nourishing function) कह सकते हैं।

इनके अतिरिक्त परिवार के कुछ शैक्षिक कार्य भी होते हैं। बच्चों को चलना, फिरना, दौड़ना ही नहीं सिखना पड़ता, बल्कि भाषा का प्रयोग और अन्य आचरण के प्रारंभिक सिद्धान्त आदि भी। इन सब के बगैर समाज में रहना अथवा अन्य किसी प्रकार का आचरण असम्भव हो जायगा। अब इन शिक्षाओं के लिये परिवार ही सबसे उपयुक्त अस्त्र (instrument or agent) है। बच्चों को सीखाना सहज नहीं। उन्हें लाड़-प्यार और प्रेमपूर्ण ढंग से सिखाना पड़ता है और यह माता-पिता से ही सम्भव हो सकता है।

लेकिन शिक्षात्मक कार्य का यह तो एक ही पहलू है। इसका दूसरा पहलू भी है। केवल बच्चे ही मा-बाप से नहीं सीखते बल्कि इसी सिलसिले में अथवा इसी बहाने मा-बाप की भी काफी शिक्षा हो जाती है। अक्सर ऐसा देखा गया है कि बहुत ही उग्र स्वभाव के स्त्री-पुरुष भी बच्चे के जन्म के बाद नम्र और कोमल बन जाते हैं क्योंकि इसके बिना वे बच्चे को प्रसन्न ही नहीं रख सकते। अतः मा-बाप को भी जीवन-संघर्ष के लिये बहुत सी बातों को सीखने का मौका मिल जाता है।

इसके अतिरिक्त माता-पिता का आपसी सम्बन्ध भी इससे प्रभावित होता है। बच्चे के जन्म के पूर्व मा-बाप में बहुत अधिक सहयोग अथवा सद्भावना रहे ही यह कोई आवश्यक नहीं, लेकिन बाद में यह सहयोग एक प्रकार से आवश्यक-सा हो जाता है। इस प्रकार यह आपसी सम्बन्ध भी उत्तरोत्तर अच्छा होता जाता है। ये हैं परिवार के शैक्षनिक कार्य (Educational functions)।

इनके अतिरिक्त परिवार का आर्थिक कार्य भी होता है। बच्चे की देखभाल और सेवा-सुश्रूषा में करीब-करीब मा का पूरा समय लग जाता है। उसे अन्य कार्यों के लिये फुर्सत नहीं रहती। इस लिये माँ तथा बच्चे दोनों के भरण-पोषण के लिये रुपये-पैसे का प्रबन्ध बाप को ही करना पड़ता है। उसे बाहर जाकर कमाना और पैसा इकट्ठा करना होता है। यह है परिवार का आर्थिक कार्य (economic functions)।

Q, 4. Point out the Weaknesses of the family in the present-day background.

हमने देखा है कि परिवार का आधार कोई कृत्रिम आधार नहीं है। इसकी जड़ मनुष्य की प्राकृतिक प्रवृत्तियों और अनिवार्य आवश्यकताओं में है। अतः इसका होना एकदम ही स्वाभाविक है। लेकिन इतना होते हुए भी कुछ खास अड़चनें ऐसी हैं जिनके कारण कभी-कभी परिवार और पारिवारिक जीवन की बुनियाद ही डगमगा जाती है। खासकर आज के युग में कुछ ऐसे कारणों का उदय हुआ जिनके साथ पारिवारिक जीवन का मेल नहीं। अतः हम कभी-कभी यह भी सोचने पर मजबूर होते हैं कि क्यों न हम बिना परिवार के ही काम चलावें। ये दिक्कतें कौन-सी हैं अथवा पारिवारिक जीवन के क्या अवगुण है इनको हम विशद रूप में देखें।

(१) बहुत से लोगों का मत है कि परिवार हमारे जीवन मे एक व्यर्थ का बोझ है जिसके बिना भी हम काम चला सकते हैं। हमारी व्यक्तिगत स्वतंत्रता के मार्ग में परिवार एक प्रबल रोड़ा है जिसे हटाना ही जरूरी है। पारिवारिक बोझ के नीचे, पारिवारिक समस्याओं के सुलझाने में हम इतना व्यस्त हो जाते हैं कि हमें अन्य बातों के लिये फुरसत ही नहीं मिलती। हम स्वतन्त्र और निश्चिन्त जीवन नहीं व्यतीत कर सकते। इस कारण परिवार को छोड़ ही डालना चाहिये। यह पारिवारिक जीवन का एक दोष है जिसके चलते आज के बहुत से युवक विवाह सम्बन्ध और पारिवारिक जीवन से घबड़ाते हैं।

(२) लेकिन इससे बड़ी दिक्कत है कि आज-कल उद्योग-धन्धों का तेजी से प्रचार हो रहा है। इनके चलते कुछ खास-खास स्थान उद्योगों के केन्द्र बन जाते हैं और वहाँ चारो ओर से लोगों की भीड़ रोजी के लिये लगने लगती है। लोग देहातों और गाँवों से अपने परिवार और बाल-बच्चों को छोड़कर इन औद्योगिक केन्द्रों की ओर दौड़ते हैं। बेरोजगारी की समस्या के कारण यह एक प्रकार से आवश्यक भी हो जाता है। अपने परिवार और बच्चों को छोड़कर आनेवाले ये मजदूर उचित अर्थ में पारिवारिक जीवन व्यतीत कर ही नहीं सकते। नतीजा यह होता है कि वेश्यागमन आदि अनेक प्रकार के दुराचार फैलते हैं।

यह औद्योगिक विकास आजकल इतना अधिक होता जा रहा है कि वास्तव में यह समस्या बड़ी विकट होती जा रही है। औद्योगिक विस्तार के साथ पारिवारिक जीवन का मेल नहीं खाता। आजकल के औद्योगिक केन्द्रों-कलकत्ता, बम्बई, कानपुर आदि शहरों में लाखों लोग ऐसे हैं जो बिना परिवार के रहते हैं और बहुत तो पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ जानते ही नहीं। इस प्रकार यह तथाकथित परिवार कुछ चुने हुए कुलीन और सम्पतिशाली लोगों के लिये ही अर्थपूर्ण रह गया है। वे ही सही अर्थ मे पारिवारिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस प्रकार परिवार एक वर्ग-विशेष की धरोहर रह गई है। ऐसी हालत में परिवार का आज तो महत्व नहीं है, बल्कि भविष्य में इसकी हालत और खराब होने की सम्भावना है।

(३) राज्य की व्यवस्था और कानून तथा शासन के सम्बन्ध में भी परिवार से काफी अड़चन होती है। शासन के काम में अनेक व्यक्तियों के निस्वार्थ और अनवरत परिश्रम की आवश्यकता है लेकिन यह तभी हो सकता है जब उस व्यक्ति को कोई पारिवारिक जवाबदेही न हो।

(४) मित्रता और बन्धुत्व आदि मे परिवार रोड़े अटकाता है। परिवार और उसकी झंझटों के कारण हम मित्रों और दोस्तों के लिये अधिक समय नहीं निकाल सकते।

(५) उसी प्रकार वैज्ञानिक छानबीन और कला की अनवरत साधना में भी परिवार बाधक होता है।

लेकिन इन दोषों के बावजूद परिवार का आधार ही इतना मजबूत है कि अभी कुछ समय तक हमें पारिवारिक जीवन व्यतीत करना आवश्यक है।

Q. 5. What is marriage? Can we do away with the institution of marriage? Discuss the problem thoroughly.

विवाह मानव समाज में एक अति प्राचीन संस्कार अथवा रीति है। हम बिना इसके विषय में अधिक सोचे ही अपने पूर्वानुभव के आधार पर इसके महत्त्व

को मानते चले आये हैं। इसी कारण विवाह क्या है इस प्रश्न का उत्तर शायद हम शीघ्र नहीं दे सकते। सच पूछा जाय तो विवाह की परिभाषा के सम्बन्ध में विभिन्न मत हो सकते हैं।

साधारण रूप से देखने पर तो विवाह मे कोई खास बात नहीं दिखाई पड़ती। अतः कुछ लोगों का मत है कि विवाह और कुछ नहीं, बल्कि स्त्री-पुरुष के प्रेम की स्वाभाविक परिणति है। स्त्री-पुरुष में जब प्रेम होता है तो यह साधारणतः तुरत ही नहीं समाप्त हो जाता। इसकी परिणति कामेच्छा और फलतः विवाह में होती है। इसलिये यह कहा जाता है कि स्त्री-पुरुष अपनी कामेच्छा को सन्तुष्ट करने के लिये ही आपस में जुड़ जाते हैं और विवाह के सम्बन्ध में बँध जाते हैं।

लेकिन दूसरा मत यह है कि विवाह प्रेम की परिणति ही नहीं है। बहुत से समाजों में हम देखते हैं कि विवाह के पहले प्रेम की तो बात ही क्या, लड़के और लड़की की आपस में भेंट भी नहीं होती। उस हालत में हम विवाह को प्रेम की परिणति नहीं मान सकते। सच्ची बात तो यह है कि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध स्वाभाविक और आवश्यक है, लेकिन अन्त में इसके फलस्वरूप बच्चे होते हैं जिनकी देखभाल करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार विवाह के द्वारा दो व्यक्ति स्त्री और पुरुष अपने भावी सन्तान के पालन-पोषण के हेतु एक समझौता करते हैं और इस प्रकार मानव जाति के पृथ्वी पर बने रहने में सहायता करते हैं। इस प्रकार यह एक अस्थायी समझौता है (Provisional agreement) है जिसे मनुष्य अपनी इच्छानुसार तोड़ सकता है। इस समझौते के पूर्व प्रेम का होना कोई आवश्यक बात नहीं है।

यह दूसरा मत जिसकी हमने अभी चर्चा की है सबसे अधिक प्रचलित है। लेकिन हिन्दू समाज में विवाह के विषय में एक विशेष प्रकार की धारणा है। विवाह-सम्बन्ध को एक प्रकार का अत्यन्त पवित्र संस्कार माना जाता है। यह बात सही है कि यहाँ भी उपरोक्त समझौते की बात मानी जाती है, क्योंकि विवाह के समय इन्द्र, अग्नि, ब्रह्मा आदि देवताओं को साक्षी रखकर वर-वधू एक प्रकार से इस समझौते को निभाने की कसम खाते हैं। विवाह के समय जितनी पूजा-

हो जाती हैं। पारिवारक जीवन के दोषों का वर्णन हम कर चुके हैं अतः उन्हें दुहराना आवश्यक नहीं। लेकिन इसके अलावा भी बहुत सी बातें हैं जो विवाह के पक्ष को निर्बल बनाती हैं।

(२) विवाह में स्त्री-पुरुष का जो मेल होता है उसका प्रधान उद्देश्य होता है बच्चों का लालन-पालन। इसके कारण माँ का समय करीब-करीब पूरा ही बच्चे के पीछे बीत जाता है। फलतः उसके भरन-पोषण और आर्थिक आवश्यकताओं को पूरी करने की जिम्मेदारी पिता पर हो जाती है। पिता ही कमाकर धनोपार्जन करता है और सभी जरूरतों को पूरी करता है इस प्रकार पुरुष पर स्त्री को निर्भर करना आवश्यक हो जाता है। इस निर्भरता के बहुत ही बुरे परिणाम होते हैं। कहीं-कहीं तो स्त्रियों को गुलाम ही के बराबर समझा जाता है। इसी दृष्टि से Engels ने कहा है कि विवाह में हमें अन्तर्वर्गीय शोषण (Inter-class Exploitation) का एक रूप देखने को मिलता है और वह है पुरुष के द्वारा स्त्री का शोषण। इस शोषण के नाश के लिये विवाह का अन्त कर देना आवश्यक है।

(३) हिन्दू समाज में जो विवाह को पवित्रता (sanctity) दी जाती है वह केवल दिखावे की है।

वास्तव में तो इस ढोंग के कारण शोषण और भी बढ़ जाता है। एक ओर तो स्त्री को देवी समझा जाता है और दूसरी ओर उन्हें दासियों की तरह रखा जाता है।

(४) इसलिये आत्माओं के मिलन (union of souls) की बात व्यर्थ की बकवास है। वास्तव में तो यह एक समझौता (agreement) ही है जिसमें बच्चों की सेवा और लालन-पालन का उद्देश्य प्रधान होता है। यदि इतनी सी बात है तो इसके लिये विवाह आवश्यक नहीं। प्लेटो आदि बड़े दार्शनिकों ने Community of wives की बात की है। आज भी हम इसे वेश्याओं के समुदाय के रूप में चरितार्थ पाते हैं। तो फिर इसी से हम संतुष्ट क्यों न रहें। पुरुष और स्त्री का एक दूसरे को चाहकर अपनी कामेच्छा को पूरी करने की पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिये। और जो बच्चे पैदा हों उनकी देखभाल

करना राज्य (State) की जिम्मेदारी है। इस प्रकार विवाह और पारिवारिक झंझट के बिना भी काम चल सकता है।

(५) हिन्दू-समाज में तो विवाह को भारी अभिशाप समझना चाहिये। इसके चलते इतनी तबाही होती है और इतने प्रकार की कुरीतियों का उदय होता है कि यहाँ सबसे अधिक अखरनेवाली प्रथा विवाह ही दिखाई पड़ती है। इसका सबसे बड़ा दोष तो है कि यहाँ तलाक और विधवा-विवाह की प्रथा नहीं है। इसके अभाव में कतिपय निर्दोष स्त्रियाँ जीवन भर कष्ट झेलती रहती है। इन सब से उकताकर ही लोग विवाह की प्रथा के नाश की बात कर डालते हैं।

लेकिन इन सभी दिक्कतों को दूर किया जा सकता है। विवाह की प्रथा में जो दुर्गुण आ गये हैं उनका सुधार करना ही हमारा ध्येय होना चाहिये। यदि हमारी उंगली में घाव हो जाय, तो उसे काट फेंकना कोई बुद्धिमानी नहीं है। हिन्दू समाज में भी तलाक और विधवा-विवाह को शुरू कर देने से सारी दिक्कतों का अन्त हो जाता है। हम जो Community of women की बात करते है वह हमारी तत्कालिक नैतिक चेतना को स्वीकार्य नहीं हो सकती। अतः विवाह की प्रथा रहे अवश्य, पर ऐसे प्रबन्ध होने चाहिये जिससे स्त्रियों का शोषण बन्द हो जाय और उन्हें अधिकाधिक स्वतन्त्रता मिल सके।

Q. 6. What should be the relation of the Individual to the state? Discuss the ethical basis and functions of the state.

राज्य का सम्बन्ध व्यक्ति से किस प्रकार का होना चाहिये इस बात के लिये यह देखना आवश्यक है कि राज्य (State) किसे कहते हैं। राज्य एक प्रकार का सामाजिक संगठन अथवा संस्था है जिसका निर्माण समाज द्वारा समाज के अधिकारों और स्वार्थों के रक्षार्थ किया जाता है। समाज की ओर से राज्य को कुछ अधिकार प्राप्त होते है और इन अधिकारों को उपलब्ध करने के लिये जिस शक्ति की आवश्यकता हो सकती है, वह भी राज्य को मिलो रहती है। इसी आधार पर सामाजिक कल्याण की भावना से राज्य कुछ नियमों की स्थापना

करता है और जो व्यक्ति इसका उल्लंघन करते हैं उन्हें दंड देता है और इस प्रकार समाज के विकास में सहायक होता है।

हम देख रहे हैं कि इस प्रकार राज्य सामाजिक संगठन की एक विशेष और अत्यधिक महत्वपूर्ण इकाई है। हम यह भी जानते हैं कि समाज का निर्माण व्यक्तियों से ही होता है, वही समाज की नींव है। इसलिये स्वाभाविक है कि व्यक्ति और राज्य में किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध हो। अब प्रश्न यह उठता है कि यह सम्बन्ध कैसा होना चाहिये? क्या राज्य सर्वोपरी है और व्यक्ति के ऊपर उसका पूर्ण अधिकार है? या राज्य के होते हुए भी व्यक्ति अपने आचरण में स्वतन्त्र है? दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि किस हद तक राज्य को व्यक्ति का नियंत्रण करना चाहिये। इसी समस्या को कभी कभी Individual versus State-control की समस्या कहा जाता है।

अब राजनैतिक सिद्धान्तों के अनुसार इस प्रश्न के अनेक उत्तर हो सकते हैं। राज्य की कैसी व्यवस्था और क्या रूपहोना चाहिये। इसके विषय में विभिन्न वादों के विभिन्न मत हैं और उसी के अनुरूप व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध के विषय में भी विभिन्न मत हो सकते हैं। लेकिन आचर-शास्त्र और समाज-दर्शन की दृष्टि से हमें इन बखेड़ों से अधिक सम्बन्ध नहीं। हमें तो नैतिक दृष्टि से इस सम्बन्ध का आदर्श रूप निधारित कर देना है। मनुष्य यद्यपि राजनैतिक (Political) प्राणी है, तथापि वह प्रधानतः सामाजिक और नैतिक जीव है। अत और दृष्टियों से राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध चाहे जैसा हो पर हमें नैतिक दृष्टि से इसकी परीक्षा करनी है। हमें यह देखना है कि नैतिकता के विकास के लिये इस सम्बन्ध का आदर्श रूप क्या हो सकता है?

निर्विवाद है कि कम से कम नैतिक दृष्टि से राज्य को स्वतः साध्य (an end in itself) मानना ठीक नहीं। राज्य की स्थापना तो व्यक्तियों के परम मंगल के लिये होती है। इसलिये यदि राज्य अपने को सर्वोपरि और स्वतः साध्य मानकर व्यक्तियों का दमन करे, तो यह वाछनीय नहीं। नैतिकता के ख्याल से न तो राज्य को निष्प्राण और यांत्रिक (mechanical) होना चाहिये और न व्यक्ति को इस यंत्र का पुर्जा-मात्र समझा जाना चाहिये। हमेशा

ही यह स्मरण रखना आवश्यक है कि राज्य भावुक व्यक्तियों (Persons with feeling) का संगठन है और इसलिये लकड़ी के एक गठ्ठर अथवा लोहे की मशीन से यह भिन्न है। राज्य को चाहिये कि व्यक्तियों के परम शुभ का साधक हो और उनकी नैतिकता के समुचित विकास में सहायक हो।

प्रो० सेथ का कथन ठीक ही है कि: "नैतिक दृष्टिकोण से राज्य को एक साधन (means) समझना चाहिये, स्वतःसाध्य नहीं। राज्य की सत्ता व्यक्ति के लिये है, व्यक्ति की राज्य के लिये नहीं। नैतिक इकाई व्यक्ति है; और राज्य का कार्य व्यक्ति के स्थान का अपहरण करना नहीं है, वल्कि उसके व्यक्तित्व के विकास में उसकी सहायता करना है उसे स्थान और अवसर प्रदान करना है। यह (राज्य) उसके (व्यक्ति) लिये है; वह इसके लिये नहीं; यह उसका क्षेत्र है, उसके नैतिक-जीवन का माध्यम है।

इसका तात्पर्य यह होता है कि राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्ताक्षेप उसी हद तक करना चाहिये जितना उसके कल्याण के लिये आवश्यक हो। व्यक्ति की पाशविक प्रवृत्तियों का नियंत्रण जरूरी है, लेकिन उसके उच्च व्यक्तित्व अथवा विवेकात्मक आचरण के विकास में हस्तक्षेप करना उचित नहीं है। जन-कल्याण अथवा समाज का मंगल ही राज्य का उद्देश्य है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि क्या नैतिक दृष्टि से राज्य की आवश्यकता भी है ? क्या राज्य का कोई नैतिक आधार (ethical basis) है, अथवा नहीं ?

इस शंका का कारण यह है कि, हम जानते हैं, नैतिकता की एक आधारभूत मान्यता है (fundamental postulate) संकल्प-स्वातंत्र्य (freedom of will)। अतः कुछ लोग कहते हैं कि राज्य के होने से व्यक्ति की इस स्वतंत्रता का हनन होता है। वह जैसा चाहे, वैसा नहीं कर सकता, क्योंकि उस पर राज्य का नियंत्रण रहता है। फिर नैतिकता किस प्रकार सम्भव हो सकती है। नैतिक-उचित-अनुचित का दायित्व व्यक्ति पर किस प्रकार हो सकता है ? इसीलिये लोग कहते हैं कि अपनी पूर्ण स्वतंत्रता के लिये राज्य का लोप होना आवश्यक है। अतः वास्तव में, नैतिक दृष्टि से राज्य का कोई आधार नहीं। इस प्रकार कुछ लोग अराजकता (Anarchy) के समर्थक हैं।

लेकिन यह मत भ्रामक है। हम जानते हैं कि पूर्ण स्वतंत्रता तो हमेशा ही सापेक्षिक (relative) होता है। यदि व्यक्ति सचमुच पूरी स्वतंत्रता का उपयोग करे और उस पर किसी प्रकार का सामाजिक नियंत्रण न रहे तो उसका जीवन इतना संघर्षमय हो जायगा कि वह जानवरों से भी अधम हो जायगा। स्वतंत्रता नाम की कोई चीज ही नहीं रहेगी, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के स्वार्थों का बाधक हो जायगा। इसलिये शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने और अपने स्वतंत्र अधिकारों की रक्षा के लिये किसी प्रकार का वाह्य नियंत्रण अनिवार्य है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या राज्य के नियन्त्रण में व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं रहता? क्या वह गुलाम अथवा दास हो जाता है? बात ऐसी नहीं। राज्य का हस्तक्षेप जितना ही आवश्यक है उतना ही होना चाहिये। और यह हस्तक्षेप वास्तव में परतंत्रता का द्योतक नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो मनुष्य ने स्वेच्छा से अपने ही कल्याणार्थ अपने ऊपर लाद लिया है। इस प्रकार यह तथाकथित वाह्य नियंत्रण एक तरह से आत्म-नियंत्रण ही है और कभी व्यक्ति को नहीं अखरता। यह नियंत्रण तो इतना कम होता है कि यह मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के एक छोटे अंश तक ही सीमित रहता है। इसके बाद भी व्यक्ति के जीवन के बहुत से ऐसे पहलू बच जाते हैं जिनमें व्यक्ति पूरी तरह स्वतंत्र रहता है। वास्तव में आदर्श राज्य-व्यवस्था में तो हम पाते हैं कि मनुष्य के धार्मिक और नैतिक आचरण में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं होता। इस प्रकार नैतिक दृष्टि से भी राज्य का आधार ठोस है, बल्कि नैतिक उत्कर्ष और परम मंगल के लिये राज्य का होना आवश्यक है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य (state) एक उपयोगी संस्था है, जिसका व्यक्ति के सामाजिक और नैतिक जीवन में काफी महत्व है। राज्य की कुछ जवाबदेही है। व्यक्ति के प्रति उसके कुछ कर्त्तव्य हैं। अब हमें देखना है कि वे कर्त्तव्य क्या हैं?

व्यक्ति के नैतिक जीवन के माध्यम के रूप में राज्य के प्रधानतः दो कार्य हैं:

(१) अन्य व्यक्तियों अथवा समाज के अनुचित हस्तक्षेप से व्यक्ति की रक्षा करते हुए उसे आत्म-लाभ (self-realisation) का अवसर देना। यह एक प्रकार का निषेधात्मक (negative) कार्य है और इसे हम स्पष्ट रूप में न्याय (justice) का कार्य कह सकते हैं। व्यक्ति के अधिकारों का अपहरण नहीं होने देना राज्य का ही दायित्व है। अपने अधिकारों के अभाव में व्यक्ति किसी प्रकार का नैतिक आचरण नहीं कर सकता और न अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। इसीलिये इस ओर ध्यान देना और अत्याचारों के विरुद्ध न्याय करना राज्य के लिये आवश्यक है।

(२) दूसरा कार्य है प्रत्येक नागरिक (citizen or individual) के नैतिक और सामाजिक जीवन को उन्नत बनाने का रचनात्मक (constructive) कार्य। जब तक व्यक्ति को भौतिक और अध्यात्मिक सुख-सुविधायें न हों तब तक नैतिकता का विकास सम्भव नहीं। इसलिये व्यक्ति के स्वास्थ्य रक्षा, उसकी शिक्षा, जीविका और अन्य हितों पर ध्यान देना भी आवश्यक है।

इन दोनों कार्यों को समुचित रूप से पूरा करके राज्य व्यक्तियों के कल्याण में सहायक होता है।

Q. 7. Give arguments for and against the right to private property and conclude with your own views.

व्यक्तिगत सम्पत्ति के औचित्य की परीक्षा से पूर्व हमें देखना होगा कि हम सम्पत्ति किसे कहते हैं और व्यक्ति का सम्पत्ति से क्या सम्बन्ध हो सकता है। सम्पत्ति की बात बहुत ही प्राचीन है। हम अपनी जरूरतों को पूरी करने के लिये कुछ खास वस्तुओं की इच्छा करते हैं और इनके मिल जाने पर इनसे हमारा एक प्रकार का मोह हो जाता है। इन सब वस्तुओं पर हम अपना स्वाभाविक अधिकार समझते हैं और किसी भी अवस्था में हम इन्हें अपने पास रखना चाहते हैं। इस प्रकार अपनी इच्छा-पूर्ति के साधनों को ही हम सम्पत्ति की संज्ञा देते हैं।

"Property is a matter of right; it is the title to the exclusive possession and use of goods. In its legal

aspect, property may be described as a body of rights and duties which determine the relations of men regarding their control over material things."

सम्पत्ति किसी व्यक्ति की हो सकती है अथवा किसी समाज या समुदाय की। जिन भौतिक वस्तुओं से हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और जिनपर हमारा या हमारे समाज अथवा वर्ग का एकाधिपत्य होता है, अर्थात् दूसरे किसी व्यक्ति अथवा समुदाय को इसके व्यवहार की स्वतन्त्रता नहीं होती, इसे ही हम सम्पत्ति कहते हैं। इस प्रकार या तो सम्पत्ति का अर्थ हो सकता है, किसी व्यक्ति अथवा समुदाय की भौतिक सम्पत्ति अथवा वे सभी वस्तुएँ और व्यक्ति भी जिनपर उसका अधिकार है। इस तरह पहले दासों अथवा बेगारों को भी सम्पत्ति के अन्दर गिना जाता था, लेकिन आज इसकी निन्दा होती है। अतः सामाजिक विकास के साथ-साथ सम्पत्ति का अर्थ भी बदलता रहता है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private property) की आवश्यकता होती है इसलिए कि व्यक्ति अपनी जरूरतों, मुशीबतों आदि में उनका प्रयोग कर सके। वृद्धावस्था अथवा बीमारी के समय में दिक्कत न हो इसलिये लोग पहले से ही अपनी जरूरत की वस्तुएँ जमा करके रखते हैं। इसी कारण और इसी रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति का प्रारम्भ हुआ। प्रत्येक व्यक्ति जितने से अपनी जरूरतों को पूरी कर सकता हो उतना रखने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु बात ऐसी होती नहीं। आज की सामाजिक व्यवस्था इतनी विकृत हो गई है कि समाज का सारा धन मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथ में जमा हो गया है और इसके कारण अन्य व्यक्तियों को कष्ट झेलना पड़ता है। यह दुर्गुण आज के औद्योगिक युग में और भी विकृत रूप ले रहा है। इसी कारण शंका उठती है कि क्या इस प्रकार सभी व्यक्ति की सम्पत्ति हड़पकर कुछ व्यक्तियों को सुख-सुविधा प्राप्त करने का हक है? क्या व्यक्ति सम्पत्ति का अधिकार उचित है?

इसका उत्तर देने के लिये हमें यह देखना होगा कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का क्या आधार है, और इसके पक्ष में क्या तर्क उपस्थित किये जाते हैं।

(१) यह कहा जाता है कि सम्पत्ति का महत्त्व पहले जमाने में व्यवहार की

सुविधा के लिये था, न कि शक्ति के उपार्जन के लिये। और यह मनोवैज्ञानिक आधार पर उचित है। इसकी जड़ है बच्चों की जमा करने की प्रवृत्ति (Acquisitive Instinct) में। चींटियों और जानवरों में हम खाद्य की सामग्री को भविष्य के लिये सम्हाल कर रखने की प्रवृत्ति पाते हैं। बच्चों में भी इस प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है। हम पाते हैं कि बच्चे अपनी गुड़ियों, खेलने की वस्तुओं और कतिपय छोटी-बड़ी चीजों को जमा करके रखते हैं और उसे किसी भी हालत में छोड़ना नहीं चाहते। यही प्रवृत्ति वयस्क होने पर सम्पत्ति उपार्जन करने का कारण बनती है।

(२) हम वास्तव में तो वस्तुओं को महत्व इसलिये देते हैं कि उनसे हमारी जरूरतें पूरी होती हैं लेकिन बाद में इनके प्रति हमारे अन्दर एक प्रकार का मोह हो जाता है और इसका फल यह होता है कि बाद में ये वस्तुयें स्वयं साध्य (end) हो जाती हैं। जैसे हम मामूली वस्तुओं अपनी चिट्ठियों, छोटे-मोटे कागजात और कैश-मेमो तक को जमा रखना चाहते हैं, क्योंकि किसी समय इनसे हमारी जरूरतें पूरी हुई थीं। इस तरह सम्पत्ति में केवल उनकी उपयोगिता का ही हाथ नहीं रहता। इनमें हमारी भावनाओं और संवेगों (feelings & emotions) का भी स्थान होता है।

(३) इनके अतिरिक्त सम्पत्ति से व्यक्ति की शक्ति में भी वृद्धि होती है। आज के युग में हम पाते हैं कि जो व्यक्ति जितना धनवान होता है, समाज में उसकी उतनी अधिक प्रतिष्ठा होती है और उसकी शक्ति भी उसी मात्रा में बढ़ती जाती है। अतः बाद में सम्पत्ति शक्ति का प्रतीक हो जाता है। इसलिये शक्ति और प्रतिष्ठा की भावना से भी सम्पत्ति का उपार्जन होता है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्तिका मनोवैज्ञानिक और औपयोगिक दोनों ही आधार है। लेकिन फिर भी इस विषय में विरोधी मत देखने को मिलते हैं। कुछ लोग तो सम्पत्ति को अपनी मिहनत और भाग्य का वरदान मानते हैं और इसी कारण इसे अपनी 'पवित्र' धरोहर समझते हैं। लेकिन दूसरे लोग सम्पत्ति को चोरी की नजर से देखते हैं। इनके मत से व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिये कोई नैतिक अथवा धार्मिक आधार नहीं है। दूसरे लोगों के स्वार्थों का

हनन करके, मुनाफा कमाकर और सब की नजरों में धूल झोंककर अपने लिये वस्तुओं का जमा करते रहना अन्याय है। अतः इन लोगों का मत है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार ही उठा दिया जाय। राज्य के लिये सभी लोग अपनी योग्यतानुसार काम करें और सारा उपार्जन राज्य का हो तथा राज्य ही सबों की जरूरतों को पूरी करें।

(१) पूंजीवादी और सम्पतिशाली लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि सम्पत्ति के कारण व्यक्ति को परिश्रम और कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। सम्पत्ति उपार्जन करने के लिये लोग उद्योग-धन्धों और व्यवसायों की ओर ध्यान देते हैं और इस तरह समाज का कल्याण होता है और उसकी उन्नति होती है। सम्पत्ति से व्यक्ति के सुख-साधन में सुविधा होती है, उसे आराम और प्रतिष्ठा मिलती है और इस कारण प्रत्येक व्यक्ति शक्ति भर मिहनत करके धनोपार्जन करना चाहता है।

लेकिन यह तर्क बहुत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता परिश्रम और अध्यवसाय की प्रेरणा सम्पत्ति से ही नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त और बहुत सी बातें हैं जिनसे यह प्रेरणा प्राप्त होती है। कर्त्तव्य भावना और समाज-कल्याण की भावना से भी ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो सकती है। अतः इस कारण सम्पति को इकठ्ठा करने का अधिकार नहीं दिया जा सकता।

(२) यह भी तर्क किया जाता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति से लोगों की सुरक्षा और आत्म निर्भरता बढ़ती है। सम्पत्ति रहने से लोग सोचता है कि विपत्ति के के दिनों में उसे कष्ट न होगा और इस प्रकार उसकी सुख शान्ति बढ़ती है। लेकिन सुरक्षा के लिये सम्पत्ति का होना बहुत आवश्यक नहीं रह जाता यदि राज्य की ओर से प्रत्येक व्यक्ति की देख-भाल हो। आजकल रूस और चीन में व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है, तब भी वहाँ लोग बड़े चैन से रहते हैं।

(३) उसी प्रकार यह कहना कि सम्पत्ति से लोगों में उत्तरदायित्व की भावना बढ़ती है एक थोथी दलील है। यह सब गिने-चुने धनवान लोगों का तर्क है जो चाहते हैं कि समाज और सामाजिक व्यवस्थाओं का त्यों बना रह जाय और वे अन्य लोगों का शोषण कर अपना आराम और सुभीता बढ़ाते रहें। यदि

कुछ लोगों को यह न्याय संगत और उपयोगी मालूम ही पड़ता है तो इससे इसे बनाये रखना शोभनीय नही।

लेकिन इन सब आलोचनाओं का यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि व्यक्तिगत अधिकारों के नाम पर कुछ रहे ही नहीं। वास्तव मे हमें पूंजीवादी और साम्यवादी व्यवस्थाओं मे समन्वय कर बीच का रास्ता लेना है। न तो निरर्थक और फाजिल ढङ्ग से सम्पत्ति रखना उचित है और न लोगों का एकदम दिवालिया हो जाना ही। हमें भागवद्गीता के उस आदर्श का अनुसरण करना चाहिये जिसमें कहा गया है कि व्यक्ति को उतनी ही इच्छा करनी चाहिये जिससे उसकी भूख मिट जाय। जो इससे अधिक जमा करता हैं, वह दण्ड का भागी है।

Q. 8. Write short explanatory notes on :

(a) Social Morality (b) Political morality and (c) International morality.

नीतिशास्त्र में हमने जितनी बातों की चर्चा की है वे सभी व्यक्तिगत नैतिकता से सम्बद्ध हैं। उनमें केवल यही देखा गया है कि व्यक्ति के आचरण में उचित-अनुचित की परीक्षा किस प्रकार की जाय तथा सामाजिक और नैतिक प्राणी होने के नाते व्यक्ति के क्या कर्त्तव्य हैं। इसी बात को ध्यान में रखकर नियमों और आदर्शों तथा सद्गुणों की चर्चा की जाती है। अब इसीलिये प्रश्न उठता कि क्या इन्हीं नियमों का सामाजिक, राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों में व्यवहार नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार नैतिकता की दृष्टि से व्यक्ति के कर्त्तव्य तथा दायित्व आदि निश्चित होते हैं, क्या उसी प्रकार का दायित्व समाज, राज्य और विश्व-चेतना पर नहीं है। इन्हीं की चर्चा हम सामाजिक, राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता में करते हैं।

(क) सामाजिक नैतिकता (Social morality) जिस प्रकार हमारे कर्त्तव्य और अधिकार अपने लिये निश्चित हैं उसी प्रकार समाज की पृष्ठभूमि में भी हमारे कुछ कर्त्तव्य हैं। समाज के अंग होने के नाते समाज के प्रति भी हमारे कुछ दायित्व हैं। अपने लिये धर्म-अधर्म का विचार करना वैयक्तिक

नैतिकता है यथा हम परोपकार अथवा दान को एक सद्गुण समझते हैं और इससे पुण्य लाभ करते हैं।

समाज के अंग होने के नाते दूसरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में भी हमारे कुछ कर्त्तव्य हैं। हम अपने समाज में रहकर जैसा चाहें मनमाना व्यवहार नहीं कर सकते और न करना चाहिये। समाज में हमे किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये अथवा समाज के द्वारा दिये गये अधिकारों के बदले हमारे क्या कर्त्तव्य हैं ये सब सामाजिक नैतिकता के प्रश्न हैं। इन्हे हम Civic duty भी कहते हैं।

लेकिन इसका दूसरा पहलू भी हो सकता है। हम जानते हैं कि हम सामाजिक प्रथाओं और रीति-रिवाजों को भी उचित-अनुचित कहते हैं। व्यक्तियों का हितचिन्तक होने के नाते अपने विभिन्न अंगों के प्रति समाज के भी कुछ कर्त्तव्य हो सकते हैं।

समाज में जो पिछड़े हुए हैं, जो असमर्थ विधवायें हैं, जो अछूत हैं इनकी ओर समाज का तथा समाज के अंग होने के नाते हमारे भी कुछ कर्त्तव्य होते हैं। इन्हीं बातों का विवेचन हम सामाजिक नैतिकता के अन्तर्गत करते हैं।

(ख) राजनैतिक नैतिकता (Political morality) साधारणतः लोगों का ख्याल रहता है कि राजनैतिक मामलों में नैतिकता का कोई स्थान नहीं। राजनैतिक निर्णयों के साथ नैतिक-अनैतिक का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो कूटनीति (diplomacy) ही सब कुछ है। यदि छल-बल अथवा असत्य व्यवहार से भी राज्य का कल्याण होता है तो वह उचित ह है। संक्षेप में, राजनैतिक सिद्धान्त है कि End justifies the means

लेकिन यह युक्ति संगत नहीं। नैतिक आदर्शों का व्यवहार राजनैतिक मामलों में भी हो सकता है और होना चाहिये। असत्य और हिंसा पर आधारित राज्य थोड़े दिनों के लिये उन्नत भले ही हो जाय, लेकिन अन्त मे ह्रास अवश्यम्भावी है। इसीलिये यह प्रश्न उठता है कि नैतिक आदर्शों का उपयोग राजनीति मे हो सकता है अथवा नहीं।

हम जानते हैं कि व्यक्तिगत आचरण मे अहिंसा को धर्म माना जाता है। क्या राजनीति में अहिंसा का प्रयोग हो सकता है? क्या राज्य (State) अहिंसा पर आधारित हो सकता है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। कुछ लोगों का ख्याल है कि राज्य अहिंसा (Non-voilence) पर आधारित हो ही नहीं सकता। लेकिन यह विचार सही नहीं।

हम जानते हैं कि अहिंसा का अर्थ होता है किसी प्राणी अथवा जीव को व्यर्थ का कष्ट न देना और यदि किसी को ऐसा कष्ट हो तो उसे उस कष्ट से बचाना। अब इसमें सन्देह नहीं कि इस आदर्श का पालन करना राज्य के लिये भी सम्भव है। यह कोई आवश्यक नहीं कि राज्य व्यर्थ का अनाचार अथवा दण्ड-विधान रखे ही। एक आदर्श राष्ट्र अथवा राज्य शुभेच्छा (Good will) और जन-कल्याण पर आधारित रह सकता है। राज्य किसी प्रकार का शोषण न करे और प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार दे यह कोई असम्भव बात नहीं।

इसी से मिला-जुला एक प्रश्न उठता है कि क्या राज्य को युद्ध करने का अधिकार है। इसका निर्विवाद उत्तर यह है कि अपनी सीमा और प्रभुत्व के व्यर्थ विस्तार के लिये युद्ध ठानना उचित नहीं लेकिन बाहरी आक्रमण से अपनी रक्षा करना एकदम न्याय संगत है। इस अवस्था मे अनिवार्य सैनिक भर्ती (Conscription) भी उचित माना जा सकता है। और इसे हम हिंसा नहीं कह सकते।

कुछ राष्ट्रों में हम पाते हैं कि व्यर्थ का वर्ग भेद किया जाता है। यथा रंग को लेकर अनेक पश्चिमी और अफ्रिकन देशों में अन्याय किये जाते हैं। काले चमड़ेवालों को वे ही अधिकार नहीं दिये जाते हैं जो उजले लोगों को। इस प्रकार का रंग भेद (Colour-prejudice) एकदम ही अनैतिक और अन्यायपूर्ण है। मानव होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार मिलना चाहिये। कुछ दिन पूर्व हमारे यहाँ भी वर्ण-भेद (Caste-prejudice) का बड़ा बोलबाला था, लेकिन यह केवल सामाजिक दुर्गुण के रूप में था। राज्य की ओर से कभी इस बात को प्रोत्साहन नहीं मिला। आजकल तो खास कर

इसे विधान द्वारा दंडित किया जाता है। भारत में एक ब्राह्मण को अथवा एक हरिजन अछूत को समान अधिकार हैं। इन्हीं सब बातों का ख्याल करना राजनैतिक नैतिकता के अन्तर्गत होता है।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता (International Morality)

नैतिक आदर्शों की चर्चा हम जिस प्रकार वैयक्तिक और सामाजिक सम्बन्धों में करते हैं उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी इन आदर्शों की चर्चा और उनका पालन होना चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं और उनके समाधान में भी नैतिक आदर्शों, उचित-अनुचित, का ख्याल होना चाहिये। इनके अभाव में आज विश्व में कितने प्रकार के अनाचार हो रहे हैं और कैसी अशान्ति छाई हुई है यह हम सभी देख रहे हैं। इसका मूल कारण यही है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हम किसी प्रकार का नैतिक बन्धन नहीं मानते। प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थों की सिद्धि में इस प्रकार अन्धा हो जाता है कि उसे दूसरे किसी सिद्धान्त अथवा नियम का ध्यान नहीं रहता।

यदि एक बार इन आदर्शों को हम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकार कर लें, यदि हम यह समझ लें क जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध नैतिक आदर्शों और नियमों के द्वारा निर्धारित होते हैं, उसी प्रकार दो राष्ट्रों का सम्बन्ध भी होना चाहिये, तो शायद विश्व का अभूतपूर्व कल्याण हो जाय। आज सबल राष्ट्रों के द्वारा निर्बल राष्ट्रों का खुलकर शोषण होता है और इन सब के विरुद्ध बोलना किसी को नहीं सूझता। हमारी धारणा और खासकर राज्य और राष्ट्र के सचालकों की धारणा यह होती है कि हमें दूसरे राष्ट्रों के साथ किसी प्रकार का भी आचरण करने का हक है।

इन सब की जड़ यह है कि हम में विश्व-चेतना (world-consciousness) नाम की कोई चीज नहीं है और न विश्व बन्धुत्व की भावना ही। आज के युग में तो ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो अपने लघु अस्तित्त्व और व्यक्तित्व तथा राष्ट्रवाद को छोड़कर अपने को विश्व का नागरिक (citizen of the world) कहे और विश्व-बन्धुत्त्व की भावना को जाग्रत करे।

लेकिन-प्रश्न उठता है कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की इस हीनता (Low International morality) के क्या कारण हैं। क्या बात है जिसके चलते लोगों को इस चेतना का विकास नहीं हो पाता ? क्यों नहीं हम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर नैतिक नियमों का पालन करते हैं ? उसके कारण अनेक हैं।

सामाजिक आचरण और नैतिकता की शिक्षा हमें परिवार में मिलती है। परिवार में हम आपस में इस प्रकार प्रेम-सूत्र में बँधे रहते हैं कि हमें एक प्रकार के सह-अस्तित्व (co-existence) की शिक्षा सहज रूप से मिल जाती है। परिवार के लिये अपने स्वार्थों के त्याग और वलिदान की भावना का बीजारोपन भी हो जाता है। उसी प्रकार नैतिक आचरण की प्रारंभिक बातों की शिक्षा भी हमें मिलती है। हम उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ आदि के विचार अपने माता-पिता और अन्य सम्बन्धियों से सीखने को मिल जाते हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करने के लिये और विश्व के प्रति हमारे कर्त्तव्य की शिक्षा देने के लिये ऐसी कोई अन्तर्राष्ट्रीय संस्था नहीं है।

व्यक्तियों में इन सब बातों के विकास के हेतु अन्य शिक्षण संस्थायें भी हैं—यथा स्कूल-कालेज, नागरिक-समाज, धार्मिक संस्थायें आदि। पर अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के लिये ऐसी कोई संस्था नहीं। अतः इस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना अनिवार्य है। तब तक जो अन्य सामाजिक संस्थायें हैं, उनका भी कर्त्तव्य है कि वे इस प्रकार की शिक्षा दें। राष्ट्र-संघ अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी संस्थायें हैं भी तो उन्हें अपने नियमों को लागू करवाने की शक्ति नहीं है।

राष्ट्रवाद और पूँजीवादी व्यवस्था भी इस विकास के मार्ग में रोड़े अटकाते हैं। इन सभी अभावों को दूर करना आवश्यक है।

लेकिन संतोष की बात है कि पिछले कुछ वर्षों से यह चेतना लोगों में जाग्रत हो रही है और यदि यह क्रम जारी रहा तो एक दिन शाश्वत और स्थायी शान्ति की स्थापना होकर ही रहेगी।

UNIVERSITY QUESTIONS

P Patna B-Bihar Al-Allahabad

(A-Annual, S-Supplementary, (H)-Honours)

This is just to give you an idea of the different forms of questions set in your Exam

PART-I-Ethics

1 Discuss the nature & scope of Ethics, *P-50 A B-55A,54(H)*

2, Discuss fully the scope of Ethics How is Ethics related to Metaphysics ? *Al-56*

3 Distinguish between Right & Good Which of them is fundamental ? *P-57A B-53(H)*

4 What are the characteristics of the Highest Good ? Is Ethics concerned with the determination of the Highest Good ? *P-50A*

5, Analyze '*Pravritti*' Explain the significance of '*Raga*' & '*Dvesa*' in this conection *P-55A B 56A*

6 Explain the nature of Moral Judgment, How does it differ from that of logical Judgment, *P-54S B-54A*

7 What are the Postulates of Morality ? Is the concept of a free rational person essential for moral judgment ? *P-52A B-55A*

8 Distinguish between motive & intention Does motive alone determine the moral quality of an action ? *B-55A*

9 Distinguish between moral and non-moral actions If a man is coerced to do wrong, is he morally responsible for the action ? *P-53A, 51S*

10. What do you mean by non moral action ? Why are non-moral actions excluded from the scope of Ethics ?*P-55A*

11, 'All is well that ends well' Explain, *P-54S*

12, Discuss whether end justifies the means with special reference to 'war to end war', *P-53A*

12A, What do you understand by End & Means in Ethics ? *Al-56*

12B, 'Pleasure or Duty is not the End, but a feature of the End', Discuss, *Al-56*

13, Discuss the nature and object of moral judgment, *P-52S B-54A*

14, 'Moral judgment is passed not upon the action done but upon the person doing' Discuss *P-55A*

15, It is the intention that constitutes the proper object of moral judgment,' Explain, *P 57A*

16, State and examine the different views on the objects of moral judgment, *Al-51, 54*

17 Give critical exposition of the Jural theory *P-54S*

18 Explain the theory of value as an Ethical standard *B-54 A P-54 S, 57 A.*

19 Is it possible to accept political, social or divine law as the true criterian of morality ? Discuss, *P-52 S*

20. Explain critically the theory, 'Law is the standard of morality' *Al-56*

21 Give an account of Moral sense theory of Intuitionism *B-55 A, P-55A*

22 Critically examine the view of Intuitionists that the conception of 'right' and 'law' are more fundamental than those of 'good' & 'end' *B 53 (H)*

23 How does Intuitionism differ from Utilitarianism ? What are the defects of Intuitionism ? *P 52 A*

24 Give a critical exposition of Egoistic Hedonism *B-56 A, P-57 A, 53 A*

25 In what respect is Mill's Utilitarianism an improvement upon earlier forms of Hedonism ? *P 54A, B 54 A*

26 What is Psychological Hedonism ? What are its defects ? *P-52S, B-55A*

27 Examine critically the attempts made by Evolutionary Hedonists to remedy the limitations of earlier forms of Hedonism *Al-55*

28 Discuss the ethical implication underlying the statement 'Eat, drink and be merry' *P-51S, 55 A*

29 Explain critically Kant's doctrine of the categorical Imperative *P-54 A,*

30. What is Kant's Rigorism ? Indicate its merits and defects. *B-55 A*

31. To what extent can the idea of perfection or self-realization supply us with satisfactory moral standard ? *B-53 A*

32 State and explain Eudaemonism as the standard of moral judgment What is the true meaning of the mamine 'Die to live'? *B 54* S

33 Explain Eudaemonism How does it reconcile Hedonism & Rigorism *P-57A*

34 Explain the different classes of Human Value. Has every good a value? *P 55 A*

35 Give an account of the virtues according to Indian Ethics P-54 A, 57 A; B-53A, 54 (H)

36 Can virtues and duties be classified? Explain briefly the five virtues or duties of Hindu Ethics Compare this list with the list of cardinal virtues as given by Plato B-54 A,

37 Write notes on—(a) Brahmacharya (b) Asteya, B-55 A

38 What are the four Purusharthas and which one of them should be the highest good of men? B 54 A, 56 A

39 Write notes on—(a) Pravritti (b) Nivritti B-54 A (c) Nishkame Karma (d) Samyame B.35 A, (e) Viveka and Shastra B 56 A.

PART II Soc Philosophy.

1 Define the meaning and scope of Social Philosophy, What is its relation to (a) Sociology (b) Ethics and (c) Politics? What is the value of its study? *Al-49,53*

2 What is the importance of education in the development of the individual & society? *Al-54*

3, What exactly do we study in Social Philosophy? Discuss briefly the bearing of Ethics & Politics in such a study *Al-55*

4 Discuss the place of schools in modern society How would you reconcile individualistic and sociological aims in education? Al 55

5 What is psychological basis of society? Is society natural to man? Al 56

6 Is there an inherent conflict between the "individual" and the "social" interest Discuss P-54A

7 What is the most satisfactory explanation of the relation between individual and society? P 52S

8 Is society a mere aggregate of Individuals? Discuss P-57A

9. Discuss the place of individual in society P-55A

10 Discuss the place of family as a social institution Examine the Platonic and modern criticisms of it Al 49,52,54,56 P-57A

11 'If we may treat the family as a little State, the child is its legitimate sovereign" (Mackenzie) Discuss Al 51

12 What is a social institution ? Explain briefly the ethical functions of family P-55A

13 Discuss the ethical value of marraige Is divorce morally justified ? P-53A.

14 Explain the conception of the secular State What is the place of religion in it ? Al-54, P-57 (Ist, pt only)

15. What is the Marxian view of the State ? How far do you agree with such a view ? Al 55

16, What are the different theories of the State ? Do you accept State as a mode of social unity ? Al. 56

17 Discuss the merits and demerits of the Marxian view of property Al 56

18 Discuss the nature and importance of property as a social institution Al 52

19 Explain the meaning of 'Property' Discuss whether private property is morally justified P-54 A

20 What is the place of religion in human life ? Can the state remain indifferent to religious institutions ? Al 56

21 What place, if any, do you assign to morality and religion in human culture ? Al 55

22 How are groups formed ? Write a note on the group morality P-54 S, 52 A

23 Give an estimate of the different aspects of political morality P-54 A

24 What should be the moral ideals governing international relations ? P-55 A

25 Is one-world-government feasible ? Discuss P-57 A